नवीन पद्य-संग्रह

[संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

संपादक

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

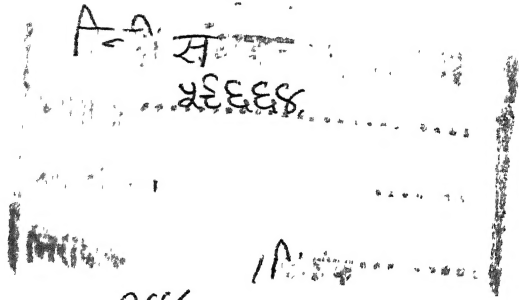


शक १८९४ : १९७३ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

तैतीसवाँ संस्करण : ३१०० प्रतियाँ, शक १८९४
मूल्य : तीन रुपए



मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

नवीन पद्य-संग्रह का यह परिवर्द्धित और संशोधित तैंतीसवाँ संस्करण है। इस संस्करण में खड़ी बोली की ही कविताएँ संगृहीत हैं और उन पर संक्षिप्त समीक्षात्मक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया गया है।

खड़ीबोली के काव्य को संपादक ने उदयकालीन धारा, उत्थानकालीन धारा, विकासकालीन धारा और प्रयोगकालीन धारा—इन चार भागों में विभक्त किया है। काव्यधारा का विभाजन और काव्यगत समीक्षा सर्वथा समीचीन है। हिन्दी साहित्य की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों और परीक्षार्थियों के लिए यह छोटी-सी पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

सुधाकर पाण्डेय

प्रधानमंत्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

प्रयाग

विषय-सूची

पृष्ठ

विकासकालीन धारा

प्रयोगकालीन धारा

भूमिका

जीवन मानवता की अभिव्यक्ति है और कविता जीवन की; किन्तु कविता की अभिव्यक्ति केवल भावात्मक है। प्रकट रूप में वह गुंजन है——संगीत, भाषा और अलंकार उसका कलेवर है, रस उसकी आत्मा और उसका स्वरूप।

जीवन एक धारा है और धारा कभी प्रशांत रहती है, कभी वेगमयी, किन्तु चाहे जो हो, तरंग और हिलोर तो प्रत्येक दशा में उसमें रहती ही है——मन्द हो कि चंचल। कविता भी हमारी जीवन-धारा की हिलोर है। हमारे प्राणों का जो स्पन्दन है, जिसमें जीवन के क्षण-क्षण का राग-विराग, पल-पल का आनन्द-विषाद विजड़ित है, कविता में वह उद्गार बनकर फूट पड़ता है।

कविता जीवन का आत्म-प्रकाश है। हमारे जीवन में रात-दिन एक संघर्ष चला करता है, निरन्तर हम कर्म में लीन रहते हैं, हमारी आवश्यकताएँ, हमारे अभाव, मन में मंथन करते रहते हैं। काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तब हमें विश्राम की आवश्यकता पड़ती है, उस समय हमारे अंग-प्रत्यंग शिथिल से हो जाते हैं, किन्तु भावों को लेकर हमारे अंतःकरण में जो तृष्णा पुंजीभूत रहती है, तृप्ति में आनन्द की जो किलकारियाँ गुंजन करती रहती हैं, विषाद में प्राणान्तक पीड़ाएँ हमको जो क्षत-विक्षत करती रहती हैं, वे सब-की-सब निबद्ध हो-होकर नाच उठती हैं, या उठती हैं, या चीत्कार करने लगती हैं। ज्ञान या अज्ञान में मनुष्य प्रायः आप-ही-आप उन्हें व्यक्त करने लगता है। बिना व्यक्त किये उससे रहा नहीं जाता। वह अपने भीतर विद्रोह कर बैठता है। विकल विकसित हो-हो नाना प्रकार के भावों और व्यवहारों, वृत्तियों

और भंगिमा से वह अपनी तत्कालीन आत्मा का जो परिचय देता है, अव्यक्त को जो व्यक्त करता है, उसका उत्तरंग रूप ही कविता है।

कला का आधार आनन्द है, और आनन्द है सौन्दर्य की अभिव्यक्ति। काव्य भी सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति है। भाव और वस्तु-जगत का सौन्दर्य रेखा और तरंगों में व्यक्त होता है। चित्रकार अपनी तूलिका में उस सौन्दर्य को ज्योतित कर आनंद का उद्रेक करता है, कवि उसी को भाव और कल्पना की संधि में भाषा और छंद का रूप देखकर जो साकार बना देता है, उसी को हम कविता कहते हैं। तब कवि का आनन्द व्यक्तिगत न रहकर सार्वजनिक हो जाता है।

काव्यकला मे आनन्द का प्रतीक रस है। हँसना, गुनगुनाना, चंचल हो उठना, स्वप्न देखना और कोमलता का स्पर्श करके रोमांचित हो जाना ही आनन्द लूटना नहीं है, व्यथा का अनुभव, अश्रुपात और हृदय का हाहाकार भी रस-रूपों में आनन्द ही है। पुष्पवाटिका में सखियों सहित सीता का रामदर्शन ही अतीव सुखकर नही है, परित्यक्ता——अवहेलिता—— जानकी तथा विरह-विदग्धा गोपियों का श्रीकृष्ण-संस्मरण भी हमारे लिए अतिशय आनन्द-वर्द्धक है। मानिनी राधा और श्रीकृष्ण का प्रेमालाप ही आनन्दकर नही है, द्रोपदी के मुक्त केशों की हृदय-द्रावक कथा भी अतुल आनन्द-दायक है। सरोवर के तीर पर विकसित कमल-वन ही हमारे हृदय में अद्‌भुत आनन्द उद्रेक नहीं करता, भूमिशायी शुष्क पद्मपत्र भी जब कुछ कहते हुए-से प्रतीत होते हैं, तब हमें पीड़ा पहुँचाते हुए भी सदा एक प्रकार का आनन्द ही देते हैं। साधारण पुरुषों के लिए स्थूल जगत भी निरन्तर कुछ-न-कुछ कहता ही रहता है। रास्ते में पैर के नीचे आ पड़ने वाले पुष्प, गंगा-तट की रेणुका, वृक्षों की हरी-पीली पत्तियों का मर्मर स्वर, घोर निर्जन पथ और अमा निशा का सन्नाटा, पीड़ित मानव की मूक दृष्टि, राज-पथ की उन्मादिनी, मित्रों का पारस्परिक प्रेम-सम्भाषण आदि, जीवन और जगत में जो कुछ भी

मोहक और मर्मान्तिक, पीड़ाकर, कौतूहल-वर्द्धक या विक्षोभकर, शान्तिप्रद या विद्रोह-पूर्ण दृष्टिगत होता है, कवि के लिए सभी में कुछ-न-कुछ सौन्दर्य होता है। कविता में उसी सौन्दर्य की अभिव्यंजना होती है।

काव्य-कला में सौन्दर्य सृष्टि का मूल कारण रस-प्लावन माना गया है, यहाँ तक कि हमारे संस्कृत काव्य के व्याख्याकार रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते आये है। उनका दूसरा मत है---रमणीक अर्थ-प्रतिपादन ही काव्य है। पर ध्यान से देखा जाय तो रस-सृष्टि और रमणीक अर्थ-प्रतिपादन वास्तव में एक ही भाव के प्रकारान्तर है।

कुछ विद्वान् काव्य-कला में सत्यं-शिवं-सुन्दरम्---ये तीन गुण मानते हैं; परन्तु पाश्चात्य काव्य-कला के अधिकांश समीक्षक कला को केवल कला के लिए मानते हैं। उनका मत है कि काव्य तो जीवन के सत्य और सुन्दर स्वरूप की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वह कविता में सत्यम् और सुन्दरम् ये दो गुण देखते हैं। शिवम् अर्थात् लोकहित को वे कविता का लक्षण नहीं मानते। उनका मत है कि कविता हमारे अन्तःकरण की वस्तु है। उल्लास और स्वप्न की कल्पना और तरंग की भाँति वह हमारे जीवन के आनन्द का गान करती है, हमें थपकियाँ दे-देकर बाल-शिशु की भाँति सुलाती, हमारी किलकारियों की सृष्टि करती और हमें आनन्द-विभोर कर देती है। ऐसी व सुन्दरम् है। वह हमारे जीवन के विषाद, असफलताओं के निर्घोष और वैषम्य के प्राणपीड़क प्रहारों का भावात्मक निःश्वास है और इस अर्थ में वह सत्यम् की प्रतीक है। पर शिवम् किंवा लोक-कल्याण की अपेक्षा उससे नहीं की जा सकती। गौण रूप से लोक-हितैषणा उससे ध्वनित हो, यह दूसरी बात है, पर कविता में किसी प्रकार की नीति-शिक्षा कोई उद्देश्य सिद्धि अथवा किसी ज्ञानोपदेश का प्रचार कदापि समीचीन नहीं है।

हमें इस स्थल पर कोई वहस नही करनी है। काव्य-कला के ये दो सम्प्रदाय आज हमारे देश में ही नहीं, अखिल विश्व-साहित्य में देख

पड़ते हैं। कौन मत कहाँ तक सारगर्भित है, इस विषय पर साहित्य में सहस्रों ग्रन्थ भरे पड़े हैं। ज्ञान तो अगाध है। जितनी भी गवेषणा और छानवीन की जायगी, उतना श्रेयस्कर है। हाँ, इस स्थल पर एक विचार अवश्य उठता है, उसी का थोड़ा-सा परिचय यहाँ देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न यह है कि काव्य का सत्य हमारे जगत् के आज के रूप से सर्वथा विजड़ित होकर चिरस्थायी कहाँ तक है, प्रश्न यह है कि काव्य-गत सौन्दर्य हमारे आज के लोकहित में निबद्ध रहकर कहाँ तक शाश्वत हो सकता है और प्रश्न यह है कि काव्य को यदि उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाय, तो काल के अनन्त आवर्त्तन में उसकी स्थिति क्या होगी। कविता में, माना कि लोकहित सर्वथा अपेक्षित है, परन्तु लोकहित के काल-मर्यादित उपकरण भी क्या कभी स्थायी हो सके हैं? जीवन के सामने देश और काल से संलग्न जो समस्याएँ आज हैं कौन कह सकता है कि वे चिरकाल तक बनी रहेंगी? इसके सिवा यह भी विचारणीय है कि उन समस्याओं का जो समाधान आज अभीष्ट है; कौन कह सकता है कि वही जीवन में अनन्त काल तक अभीष्ट बना रहेगा।

इसके सिवा एक बात और है। कला का आधार आनन्द है। और देश काल की समस्याओं का समाधान भी आनन्द ही है। तब प्रश्न यह उठता है कि जो आनन्द जीवन के लिए अक्षय है, शाश्वत है, उसमें अधिक स्थायी लोकहित सम्भव है, या तत्कालीन आनन्द? स्पष्ट है कि जीवन का हित चिरस्थायी आनन्द में है; अतएव कविता जीवन के चिरस्थायी आनन्द की ही अभिव्यक्ति है।

(२)

खड़ी बोली का इतिहास अभी तक आधुनिक है। मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में खड़ी बोली का जन्म होता है। उस काल को हम भारतेन्दु-काल के नाम से पुकारते हैं। पर भारतेन्दु-काल के काव्य-साहित्य

पर ब्रजभाषा का ही राज्य था। उस समय खड़ी बोली में कविता लिखने के चिह्न-मात्र यत्र-तत्र लिखे हुए देख पड़ते थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमधन', पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री आदि कुछ व्यक्ति ऐसे थे, जो उस समय खड़ी बोली में कविता लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने खड़ी बोली में कुछ कविताएँ लिखी भी हैं, परन्तु कविता के योग्य, सच पूछिए तो खड़ी-बोली के शब्द-भण्डार का उस समय तक निर्माण ही नहीं हो पाया था। इस कारण भारतेन्दु-काल में खड़ी बोली के काव्य का न तो सम्यक् परिष्कार ही हो सका, न उसकी तत्कालीन रचनाएँ ही अपना स्थान बना सकीं। खड़ी बोली में कविता के जन्म का मुख्य श्रेय द्विवेदी युग को है। और इस युग का प्रादुर्भाव 'सरस्वती' (मासिक पत्रिका) के उस काल से होता है, जब वह आचार्य पंडित महाबीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में निकलने लगती है।

भारतेन्दु-काल में हमारे साहित्य में जो एक नवीन जागरण आया था, द्विवेदी-काल की कविता पर उसका अक्षुण्ण प्रभाव है। शताब्दियों से हिन्दी कविता पाश-बद्ध चली आ रही थी। कविता के विषय या तो राजवंशों की प्रशस्तियाँ होती थीं अथवा भक्ति-पक्ष में राधा-माधव की रासलीला, उनकी बाँकी झाँकी और गोप-गोपियों के विरह-वर्णन। उस समय भाषा में भी पूर्ण अराजकता थी। प्रचलित-अप्रचलित शब्दों के विकृत रूपों के प्रयोग की कोई मर्यादा नहीं थी, सीमा नही थी। निश्चित अलंकारों और छंदों में विजड़ित रहकर हिन्दी कविता क्रमागत रूपेण निर्जीव और निष्प्राण होती जा रही थी। भारतेन्दु-काल इस परिस्थिति के ज्ञान—उसके प्रति विद्रोह का युग है। और इसलिए खड़ी बोली के काव्य के परिष्कार की अधिक आशा भी हम उस काल से नहीं कर सकते।

नवीन हिन्दी काव्य की उदयकालीन धारा द्विवेदी-युग की अमर देन है। इस धारा के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती युग की जागृति का पूर्ण

रूप में अभिनन्दन किया। देश-काल की सामयिक समस्याओं के ऊहापोह में भी जागरण के गान गाने में अपनी प्रतिभा का अद्‌भुत परिचय दिया। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', नाथूराम शर्मा 'शंकर', रामचरित उपाध्याय तथा स्वतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मिलकर इस दिशा में बड़ी सफलता प्राप्त की।

गुप्त जी ने लिखा--

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

शंकर जी ने--

बस भारत का रस भंग हुआ।

तथा

उलटे हम हाय जा रहे हैं?

द्विवेदी जी ने--

शरीर के हित है काम सारे,
शरीर के सब सुख हैं हमारे,
शरीर-रक्षा पर ध्यान दीजै,
शरीर-सेवा सब छोड़ कीजै।

'सनेही' जी ने--

नहीं पद-दलित होने, दबने, दाँत दिखाने आए हैं।
कठिन काम करने आए हैं, भार उठाने आए हैं।
जी न चुराओ जीवन-रण में, समय-शूरवत डटे रहो।
ईश्वरीय आदेश यही है, निर्बलता से हटे रहो।
धीर बनो, नरवीर बनो, गम्भीर बनो, दृढ़ हृदय बनो।

उपाध्याय जी ने—

चिन्तारस में डूब रहा है ग्राह-ग्रसित-सा देश कन्हैया !
गज की भाँति इसे भी रख लो मिटे न गौरव लेश कन्हैया !

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी ब्रजभाषा का पथ त्याग कर खड़ी बोली को अपनाया, पर ध्यान से देखा जाय, तो नवीन काव्य के जन्म का वह युग प्रमुख रूप से काव्य-निर्माण का न होकर काव्योचित भाषा-निर्माण का है। सुन्दर शब्दों का चयन और उनका यथातथ्य व्यवहार, व्याकरण-सम्मत पदावली सरल एवं चिरपरिचित छंद-ग्रहण और सर्व-साधारण की समझ में आ जाने वाला प्रसाद-गुण सम्पन्न भाषा का परिष्कार द्विवेदी-काल की ऐसी देन है, जिस पर हिन्दी काव्य का विकास निर्भर है। कविता का वह उन्नत रूप परवर्ती उत्थान और विकासकालीन धाराओं में मिलता है, उसका मुख्य श्रेय उदयकालीन धारा के भाषा-परिष्कार को ही है।

उदयकालीन धारा की वह कविता मुख्य रूप से वर्णनात्मक और इतिवृत्तात्मक है। एक ओर वह वस्तुजगत् पर आधारित है, दूसरी ओर सामयिक समस्याओं के समाधान की भी उस पर छाप है। काव्य में प्राणों के द्वंद्व, मिलन और विच्छेद का जो अक्षय गुंजन होता है, काल के अनन्त ध्वंसात्मक प्रहार भी जिसे विचलित नहीं कर पाते, ऐसा कोई मौलिक सतत प्रयत्न इस धारा की कविता में दृष्टिगत नहीं होता, यद्यपि इस धारा के कवियों में श्री हरिऔध तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दी-काव्य की यथेष्ट गौरव-वृद्धि की है।

(३)

सन् १९१० ई० में हमारे देश में क्रांति की एक आँधी आती है। प्राचीन परम्पराएँ नष्ट होती हैं, प्रचलित रूढ़ियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और सर्वत्र नवीन भावनाओं, विश्वासों और जीवन को नये-नये ढंग से देखने की प्रणालियों का ज्योतिर्मय उत्साह देख पड़ने लगता है।

महायुद्ध के अन्त में सारे संसार भर में एक उथल-पुथल मच जाती है। सत्य और न्याय की सदा विजय होती है, यह विश्वास कुछ धूमिल-सा पड़ जाता है। स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि आत्मिक बल ही श्रेयस्कर नहीं है, वैज्ञानिक आविष्कारों के आश्रय के बिना हमारी कोई गति नहीं है। शत-शत राज-प्रासाद नष्ट हो-होकर खंडहर हो जाते हैं। युद्ध के नर-संहार के बाद युद्ध-ज्वर आता है। फलतः लक्ष-लक्ष निरपराध प्राणियों का महानाश, लक्ष-लक्ष ललनाओं का हृदयद्रावक चीत्कार, पितृविहीन संतानों का जीविका-विहीन अश्रु विगलित जीवन और उन सब का भयंकर आक्रोश मिलकर एक विश्व-व्यापी भाग-विप्लव का रूप धारण कर लेता है।

नवीन काव्य की उत्थानकालीन धारा पर इसी संसार-व्यापी विप्लव का प्रभाव है। कविता से अभिव्यंजना के सारे गतानुगतिक उपकरण उस समय परिवर्तित हो जाते हैं। छंद, भाषा अलंकार और व्यंजना, सब से एक नवीनता का प्रादुर्भाव होता है। कविता जैसे बंधन तोड़कर उछल पड़ती है। उसके उछलने की उस छबि को लेकर ही इस धारा का नाम, उत्थानकालीन धारा हमें अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। इस धारा के अग्रिम कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी हैं यद्यपि इसका परिष्कृत रूप हमें सर्वश्री 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' और 'नवीन' की कविताओं में मिलता है। इस धारा में यदि कोई कमी है तो वह यह कि इसके वेग में एकात्मकता नहीं है—सामंजस्य नहीं है—प्रत्येक कवि अपनी एक दिशा में न बह कर प्रायः दो धाराओं में बहता है। एक ओर वह जीवन के प्रति अदम्य असन्तोष व्यक्त करता है, दूसरी ओर देश-काल की विषम समस्याओं से प्रभावित हो-होकर वह अस्थिर हो उठता है।

यथा—

> क्या गाती हो, क्यूं रह-रह जाती हो—कोकिल बोलो तो ?
> क्या लाती हो ? संदेशा किसका है—कोकिल बोलो तो ?

और—

जीवन पर अब दिन-रात कड़ा पहरा है।
शासन है या तम का प्रभाव गहरा है।

—एक भारतीय आत्मा

० ० ०

उस पार कहाँ फिर जाऊँ, तम के मलीन अंचल में?
जीवन का लोभ नहीं, वह वेदना छद्म मय छल में?
वेदना निकल फिर आई, मेरी चौदहों भुवन में!
सुख कही न दिया दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन में?

और—

कोलाहल क्यों मचा हुआ है घोर यह?
महाकाल का भैरव गर्जन कर रहा।
अथवा तोपों के मिस-से हुंकार यह,
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा।

—प्रसाद

० ० ०

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग अमर अम्बर में भर यह रोर!
झर-झर-झर निर्झर गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में
सरित—तड़ित गति चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में रव-घोर कठोर—
राग-अमर! अम्बर में यह रोर।

और—

कैसी बजी बीन?—सजी मैं दिन दीन।
हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी;
लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन।
देख, आरक्त पाटल-पटल खुल गये,
माधवी के नये खुले गुच्छे नये,
मलिन, मन, दिवस-निशि तू क्यों है क्षीण?

—'निराला'

° ° °

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने; नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन ?

और—

जीवन का श्रम ताप हरो हे!
सुख सुषमा के मधुर स्वर्ग से सूने जग-गृह द्वार भरो हे!

—'पन्त'

सावधान मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं।
टूटी हैं मिजरावें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं।।
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है।
आग लगेगी क्षण में हृत्तल में अब क्षुब्ध होता है।।
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है, मेरे, अन्तर-तर-से।।

और लिख विरह के गान रे कवि !

खूब खिलने के अधर पर दुख भरी मुस्कान रे कवि !

लिख विरह के गान।—'नवीन'

यह विरोध केवल भाव-धारा में नहीं है, पदावली में भी है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो इन दो प्रकार की पदावलियों का कवि एक न होकर पृथक्-पृथक् दो हैं; किन्तु संक्रमण-काल की कविता में ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है। इसके लिए कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। हाँ, इससे केवल इस बात का पता चलता है कि कवि कितना जीवन के निकट रहता है। न चाहते पर भी देश-काल से प्रभावित हुए बिना वह नही रह सकता।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। क्या उदयकाल और क्या उत्थानकाल, दोनों ही कालों के कवियों पर देश-काल की समस्याओं का प्रभाव पड़ा है। फिर क्या बात है कि उत्थानकालीन धारा की कविता में उदयकालीन धारा की अपेक्षा सौंदर्य-सृष्टि, अधिक व्यापक जान पड़ती है। क्या कारण है कि उदयकालीन धारा के कवियों पर उत्थान और विकासकालीन धारा के काव्य का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका और क्या कारण है कि छंद-ग्रहण, भाव-व्यंजना और पदावली तक में उन्होंने अपने परवर्ती कवियों का स्पष्ट पथानुसरण किया है ? यथा—

यही आता है इस मन में,

छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन मे।

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर,

व्यथा रहे, पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।

हर्ष डूबा हो रोदन में,

यही आता इस मन में।

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

नीरव थी प्राणों की पुकार

मूर्छित जीवन-सर निस्तरंग, नीहार घिर रहा था अपार।

निस्तब्ध अलस बनकर सोयी चलती न रही चंचल बयार।
पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूँदें मधुर मौन।
निःस्वन दिगन्त में रहे रुद्ध, सहसा बोले मधु, अरे कौन ?
आलोकमयी स्मिति चेतनता आई यह हेमवती छाया।"
तन्द्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया।
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार।
बीथियाँ नाचती बार-बार

—श्री जयशंकर 'प्रसाद'

कारण स्पष्ट है। उदयकालीन धारा के कवि पर पूर्ववर्ती संस्कारों का अभाव रहा है। जीवन की अनुभूति को स्पर्श से न देखकर उसने केवल कल्पना से देखा है। केवल बाह्य उपकरणों से ही वह प्रभावित हुआ है। उसके समक्ष या तो भारतीय इतिहास के निर्जीव पृष्ठ रहे हैं अथवा पौराणिक या रूढ़िवाद में विजड़ित वातावरण। इस सीमित क्षेत्र से वह बाहर निकल नहीं पाता। उसके पूर्ववर्ती युग ने कृष्णकाव्य में जो विलास विलसित रागात्मक भाव-प्रसार किया था, जान पड़ता है, उसका विरोध भर करना और भावगर्भित हो-होकर नीतिशिक्षा और ज्ञानोपदेश को पद्य के रूप में प्रकट कर देना ही उस काल में विशेष उपयोगी समझा गया था। जान पड़ता है, कला को उस समय केवल उपयोगिता की दृष्टि से देखा गया था।

उत्थानकालीन धारा का कवि इस विषय में अपने पूर्ववर्ती कवि-समाज से अपेक्षाकृत अधिक सावधान है। वह यदि देश-काल से प्रभावित भी होता है, तो उपदेश नहीं देता, व्याख्यान नहीं झाड़ता। क्रान्ति का वह अपनी अन्तरात्मा में अनुभव करता है। आँधी अगर आती है, तो उसके अन्तताल में आती है, इसलिए उसकी वाणी में उद्दाम वेग है। मानो पर्वतों के शृंग टकरा-टकरा कर वज्रघोष कर रहे हैं। वह अगर अपने जीवन में वेदना का अनुभव करता है, तो उसको व्यक्त करने के लिए

किसी अलौकिक पौराणिक नागरी का अंचल पकड़ना उसे अस्वीकार नहीं होता। जीवन के प्रति भी वह जैसा यथार्थ है, साहित्य के प्रति भी वह वैसा ही यथार्थ रहना चाहता है। हृदय की सुलगती अग्नि को अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट करके गोपिकाओं के विरह-वर्णन में उसे सीमित, मर्यादित और भीरु बना डालना उसने उचित नही समझा। जीवन की व्याख्या में अब वह अपेक्षाकृत निर्भीक बन गया है। इस धारा का वेग सन् १९१९ से १९२९ तक माना जा सकता है।

(४)

नवीन काव्य की इस धारा के आगे एक दूसरी धारा और फूटी पड़ती है—विकासकालीन धारा। उस समय आँधी शांत हो रही है। काव्य-कला की नवीन परम्पराएँ समधिक निर्धारित हो चुकी हैं। पुरातन विश्वासों और संस्कारों के समीक्षाकार भी मानों यह मानने लगते है कि इस युग की कविता में प्राण और जीवन है, हमारी आत्मा का अमर संगीत है, अतएव इस धारा का कवि स्थिर-चिंता के साथ काव्य के निर्माण को देखता है। पूर्ववर्ती धाराओं की वस्तुस्थिति का उसे पूर्ण ज्ञान रहता है। वह जानता है कि उस काल के कवि के आगे जो कठिनाइयाँ थीं, वे दूर हो गई हैं। वह यह भी जानता है कि प्रतिभा के असीम क्षेत्र में उच्छृंखलता कहाँ गुण है और कहाँ अवगुण। उसे पता रहता है कि मौलिकता का आधार-हीन, निश्चय-हानि, पदक्षेप कला के लिए श्रेयस्कर नही है। इस विषय में कार्यक्षेत्र में अंग्रेज कवियों के अनुभव उसके समक्ष रहते है। और इसलिए वह अपनी अभिव्यंजना को उनसे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और बलिष्ठ मानता है।

इस स्थल पर बात का स्पष्टीकरण बहुत आवश्यक हो गया है। विकासकालीन धारा से मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस धारा का कवि ही स्थायी काव्य के निर्माण मे सर्वाधिक समर्थ है और इतर धाराओं के कविगण इस विषय में अकृत कार्य सिद्ध हुए हैं। इस समय स्थिति तो वास्तव मे यह है कि प्रत्येक धारा का कवि अन्य धाराओं की

ओर से यथेष्ट सजग होते हुए भी उनसे सर्वथा निस्संग नहीं रह सका है। उदयकालीन धारा से जिन कवियों की प्रतिष्ठा की गई है, वे जिस प्रकार उत्थानकालीन धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, उसी प्रकार ध्यान से देखा जाय तो उत्थानकालीन धारा का कवि भी यदा-कदा उदयकालीन परम्पराओं से मिलता-जुलता देख पड़ेगा। स्पष्ट है कि क्षण-स्थायी सामयिक विचारप्रवाह से वह अपने आपको सर्वथा अक्षुण्ण नहीं रख सका है।[1] इस प्रकार जो वर्ग इन सब हलचलों से अपनी स्वाभाविक प्रेरणा को सर्वथा पृथक् रखकर जीवन के स्थिर प्रभाव से; आनन्द का गान करता है, उसी को हमने विकासकालीन धारा में परिगणित किया है।

परन्तु इस विकासकालीन धारा का जन्म भी, ध्यान से देखा जाय, तो उत्थानकालीन धारा के आधार से ही हुआ है। उसकी अभिव्यंजना, उसकी भाव-प्रवणता और उसके गीत-काव्य से वह सर्वाधिक प्रभावित है। उसके विकास पर उसकी अमिट छाप है। तो भी यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि श्रीमती महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा श्री भगवतीचरण वर्मा ने गीत-काव्य के रूप में जो साहित्य दिया है, वह अनेक अंशों में उत्थानकालीन धारा के गीतकाव्य से जैसा भिन्न है, वैसा ही अपेक्षाकृत परिष्कृत भी है। जीवन में जो अतृप्ति है, विरह में जो क्रन्दन है, श्रीमती महादेवी वर्मा के गान में वह रह-रह कर उत्थित हुआ है, बुझ-बुझकर जला है। श्री रामकुमार वेदना के गायन में कवि के रूप में जीवन के अक्षय स्वरूप की व्याख्या करते हैं। श्री भगवतीचरण जी के काव्य में दीन जीवन की अपूर्णता की ओर ले जानेवाले हमारे आज के वैषम्य के प्रति एक विद्रोह का भाव-विस्फोट है। श्री इलाचन्द्र जोशी विश्व के विराट भाव से प्रभावित होकर विधान में भी आनन्द और आशा का सम्मोहन प्रकट करते हैं। जीवन की ही झाँकी दिखलाने में श्री उदयशंकर भट्ट कितने उत्तरंग हो उठे हैं।

१—वह तोडती पत्थर : 'निराला'।

इसमें सन्देह नहीं कि सुकवि 'प्रसाद' जी की दार्शनिक गम्भीरता ने हिन्दी को जो आत्मदान किया है, कवि 'निराला' ने काव्य में कल्पना की चिरमुक्त, चिरस्वछन्द, तरंग-मल्लिकाओं की जो प्राण-प्रतिष्ठा की है, कवि 'पन्त' की कोमलतम वाणी से जीवन का जो मुक्त संगीत निःसृत हुआ है,[1] कवि 'नवीन ने व्यथा के गायन में जो रस छलकाया है, निराशा के प्रति मानवता का जो भीम-गर्जन किया है, वह हमारे काव्य-साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है; परन्तु इस निष्कर्ष के साथ-ही-साथ यह भी निश्चित है कि आज की अति आधुनिक कविता में गीति-काव्य का जो सर्वव्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है उस पर विकासकालीन धारा का अपेक्षाकृत अधिक अनुवर्तन है।

(५)

प्रयोगकालीन धारा से हमारे अति आधुनिक काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है। यों तो इस धारा का प्रत्येक कवि मानवता की अभिव्यंजना में सम्यक् प्रकारेण जागरूक है, उसके गायन में व्यथा भी मन्दिर बनकर आती है, उसके हुंकार में पुरुषत्व का ही अनुशीलन है; किन्तु प्रतिनिधित्व की दृष्टि से सर्वश्री 'प्रेमी', 'बच्चन', 'दिनकर', 'अंचल' तथा 'नरेन्द्र' अधिक अग्रसर प्रतीत होते हैं। अभी इस धारा का काव्य अपने पूर्ण पुष्ट स्वरूप में नहीं आ सका है, यहाँ तक कि कतिपय कवियों का एक पथ निर्दिष्ट नही हो पाया है; इसीलिए इस धारा का नाम हमने 'प्रयोगकालीन' रखा है। हिन्दी काव्य की यह धारा यथेष्ट आशाप्रद है।

इस प्रकार हिन्दी काव्य के इस नवीन रूप का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, यद्यपि हमारे आज के काव्य में रहस्य के अनुसंधान की जो सजग चेष्टा फूट पड़ी है, उससे अतिरंजन की भी संभावना है। संभव है, इसकी कोई प्रतिक्रिया भी हो—संभव है भौतिक समस्याओं के समाधान में ही हम सबके सब बहते हुए दीख पड़ें। क्योंकि हमारे अति आधुनिक काव्य

१—'मार्क्स के प्रति' : पन्त।

मे जो आज किसान, मजदूर, झंडा, विधवा, अछूत तथा साम्यवाद, क्रांति आदि सामयिक उपकरणों का वेग बढ़ता दृष्टिगत होता है, यह उस प्रतिक्रिया का ही लक्षण है; किन्तु हिन्दी काव्य में जीवन के स्थायी स्वरूप की व्याख्या करने की जो व्यापक दृष्टि आज आ गई है, वह मन्द होगी।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी के आधुनिक काव्य-निर्माण में ब्रजभाषा का जो योग है संग्रहकार उसके प्रति उदासीन क्यों है ? इस विषय में निवेदन यह है कि यदि ब्रजभाषा-काव्य को भी इस संकलन में समाविष्ट किया जाता, तो इसका रूप लगभग दूना हो जाता है। इसीलिए इसमें केवल खड़ी बोली के काव्य का चयन किया गया है। यदि अवसर मिला, तो यह लेखक ब्रजभाषा-काव्य का भी एक ऐसा संग्रह पाठकों के आगे रखने की चेष्टा करेगा।

समीक्षा का कार्य बड़ा दुष्कर और भयानक होता है। जैसे व्यक्ति समाज से पृथक् होकर अपना व्यक्तित्व बहुत सीमित कर डालता है, वैसे ही समीक्षाकार भी आलोचना के समय अपने आत्मीय वर्ग से अपने-आपको सर्वथा निस्संग रखता है। इसमें प्रायः निकट का व्यक्ति जहाँ उचित से कुछ कम दृष्टिगत हो सकता है; वहाँ दूरवर्ती और परिचयहीन व्यक्ति भी कुछ अधिक आलोकपूर्ण प्रतीत हो सकता है। दीपक अपनी परिधि का अन्धकार दूर कैसे कर सकता है। समीक्षाकार की यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है; अतएव यदि इन पंक्तियों में किसी के प्रति कुछ अन्याय ही हो गया हो, तो लेखक उसके लिए विवश है। उसका विश्वास है कि जो त्रुटि उसके अज्ञान से हुई है, उसके लिए वह अपने-आपको अपराधी मानने के लिए बाध्य नहीं है। जीवन अपूर्ण है, भिन्न रुचि के कारण विवाद उसके लिए वैसा ही संगीत है, जैसा ऊषा-काल के लिए शीतल-मंद समीर।

२-१-३८ —भगवतीप्रसाद वाजपेयी

दारागंज, प्रयाग

उदयकालीन धारा

पंडित श्रीधर पाठक

जन्म—माघ कृष्ण १४, संवत् १९१६; निधन—संवत् १९८६ विक्रमी।

पाठकजी हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी तथा अँग्रेजी भाषा के पूर्ण पंडित थे। खड़ीबोली तथा ब्रजभाषा दोनों में कविता लिखने में वे बड़े कुशल थे। वे प्राकृतिक सौन्दर्य के परमप्रेमी, सरस सुहृदय, कवित के व्यसनी और स्वभाव के बडे विनोदप्रिय थे। प्रायः सुहृदजनों को जो पत्र लिखते थे, वे भी पद्य-बद्ध होते थे। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद आप ग्रीष्मकाल प्रायः कश्मीर में बिताया करते थे। कश्मीर श्रीनगर तथा देहरादून आदि पर आपने ब्रजभाषा में बहुत सुन्दर रचनाएँ लिखी हैं। गोल्डस्मिथ के तीन काव्य ग्रन्थों का पद्यानुवाद करने मे आपने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

गद्य-लेखक भी आप बहुत उच्चकोटि के थे। पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर आपने सभापति के आसन से जो भाषण दिया था, उसमें हमें आपके गद्य का परिष्कृत रूप मिलता है।

पाठक जी ही पहले सुकवि हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा-काल में खड़ीबोली में काव्य लिखा है। यद्यपि गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' के अनुवाद है—एकान्तवासी योगी—तथापि काव्यरूप में खड़ी बोली में, सर्वप्रथम रचना यही है।

सांध्य अटन

विजन वन प्रांत था, प्रकृति मुख शांत था।
अटन का समय था, रजनि का उदय था।

प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा।
वाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल अरविंद-नभ नील सुविशाल।
नभ-वृक्ष पर जा रहा था चढ़ा।
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल-सा।
या प्रखर भूख की यातना से प्रहत।
पार रक्त-रस-लिप्सु अन्वेषणायुक्त।
या क्रीड़नासक्त मृगराज-शिशु।
या अतीव क्रोध, संतप्त जर्मन्य नृप-सा।
किया अभ्रवैलन उर में छिपा।
इन्द्र, या इन्द्र का छत्र या ताज या।
स्वर्ग गजराज के भाल का साज, या।
कर्ण उत्ताल या स्वर्ण का थाल-सा।
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था।
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था।
विजन वन शान्त था चित्त अभ्रांत था।
रजनि आनन अधिक हो रहा कान्त था।
स्थान उत्थान के साथ ही चन्द्रमुख।
भी समुज्ज्वल लगे था अधिकतर भला।
उस विमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस।
समय एक व्योम में विदु-सा लख पड़ा।
स्याह था रंग कुछ गोल अति डोलता।
क्रिया अति रंग में भंग उसने खड़ा।
उतरते-उतरते आ रहा था उधर।
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा।
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती।
प्रेम आलिंगिता मालती की लता।

बस उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ।
लड़खड़ाकर एक शब्द-सा सुन पड़ा।
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट तथा।
शत्रु-निःशंक की कड़कड़ाहट तथा।
पक्षियों को पड़ी हड़बड़ाहट तथा।
कंठ और चोंच की चड़चड़ाहट तथा।
आर्त्तियुत कातर स्वर, तथा शीघ्रता।
युत उड़ाहट भरा दृश्य इस दिव्य छवि।
लुब्ध दृग-युग को घृणित अति दिख पड़ा।
चित्त अति चकित-अत्यन्त दुःखित हुआ।

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु बीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की ही कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला है।
अलक्ष्य पर्दों के गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपटे स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है।
कोई पुरंदर की किकरी है कि या किसी सूर की सुन्दरी है।
वियोग-तप्ता सी भोग-मुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है।
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है।
दया है दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है।
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए है मदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्मांड भर को मानों दो उँगलियों पर नचा रही है।

सुनो तो सुनने की शक्तिवालों, सको तो जाकर के कुछ पता लो,
है कौन जोगन ये जो गगन में इतनी चुलबुल मचा रही है।

आदि आर्य

सरिता सरस्वती के तीर फेर बसे हुए
पुरखे हमारे शुचि जीवन बिताते थे।
विद्या और धन के उपार्जन में लगे हुए
वेदों के बताये निज धर्म को निभाते थे।
सच्चे थे, सुरूप थे, सुशील थे, बली थे सब
कलुषित कामनाएँ मन में न लाते थे।
पाते थे समस्त सुख स्वर्ग के स्वघर ही में,
सोमपान करते थे, साम-गान गाते थे।

स्व-जीवनी

मुक्त वृत्त

वर्ष पैंसठ हुई आज अपनी वयस, हर्ष-पूरित हुई स्वगृह-जनमंडली, मना हुआ मुदित अति उदित रवि-दरस संग, प्रात के समय ज्यों सरस सर-सिज कल।

"मंडली" शब्द पर्यन्त इस पद्य की पंक्ति उत्सव-पुरुष विमल मंगल-मयी जनवरी मास तारीख तेईस उन्नीस-पच्चीस सन बीस विरचित हुई।

बहुत से मित्र अनुरोध अति कर रहे, कीजिए शीघ्र लिपि-बद्ध निज जीवनी। न अतिविस्तृत न अतिलघु, न अत्युक्ति युक्त, किन्तु सब सत्य सुव्यक्त स्व-व्यक्तिगत, सकल घटना-घटित सरलता से वलित, सुभग सुन्दर ललित सुघर साहित्य-संस्थान में अस्खलित,सुभग कल कोकिला-काकिली-सी भली।

किन्तु मम जीवनवस्तु ऐसी नही, जो कि हो जगत् के जानने योग्य। अतएव इस ओर मति अतीव आती नही, चित्त में सुरुचि समुचित समाती

नहीं, पर सुजन वृन्द या सुहृद-जन-संघ की ओर से की गई प्रबल यों प्रार्थना, विवशता विवश स्वीकार्य होती हुई जगत के बीच में प्रायः देखी गई।

अतः लिखना उचित जीवनी का हुआ, शक्ति अनुसार कुछ सार-संयुक्त, यद्यपि लगै कार्य यह निपट एक भार ही।

आगरा प्रांत की फीरोजाबाद तहसील में जोंधरी नामक एक ग्राम है। जहाँ पिछले समय में कुछ एक काल तक किंवदंती कथित विप्रबर वंश एक नृकुल अवतंस अघ-संघ-विध्वंस-कर भूमिपति था, सकल अंश में सुकुल आचार परिपूत सुविचार-संभूतगुण आढ्य शुचि-भावना -भरित शुभचरित-परिवार-परिपूर्ण मतिमान-मूर्द्धन्य अज्ञानतम-शून्य विद्वान्‌जन मान्य राजन्य-पूज्यगण बहुदेश विख्यात अवदात-यज्ञ-राशि कृतविद्य अतिहृद्य प्रतिपत्ति-संपन्न अति भद्र अविषण्ण सुमनस्क सुवयस्क सुचिवृत्त सात्विक वली। देश पंजाब था आद्य उसका सुभग, जाति पट्‌कुल विदित सुघर सारस्वत-प्रवर पाठक सुविख्यात विप्राग्रणी।

एक-से-एक बढ़ उदित नरवर हुए, उस विशद वंश में, जो सुयश धाम हैं। उन्हीं में इन विनत-दीनजन के पुनः स्मरणीय अति समादरणीय नम-नीय आचरण सुरवंद्य पितृ-चरण का परम पावन अतीव-श्रुति-सुहावन सुजन हृदय-भावन दुरित-द्रुत-नसावन प्रयत शांति लावन सतत-सकलजन पूज्य आराध्य शुभ नाम है।

सुगुण संपन्न हैं महामहिम मृदु-शील सौन्दर्य-सौजन्य शुचि मूर्ति-कमनीय वपु-कांति तेजस्विता-स्फूर्ति-मंडल-अलंकृत अखंडल अटल कीर्ति अति सदय शुचि-हृदय शुभ-उदय धृति-निलय अखिल आचरण-हित यम नियम दिति कृति निगम आगमसुगम-अनुगमन रीति, त्यों शुचि समागम-सुजन-साधु जनप्रीति।

अति सुदृढ़ संकल्प थे सरल ऋषिकल्प नर ऋषभ कविकल्पमति अमित आनन्द-अनुभूत शुचि सुघर सात्विक-प्रकृति सुहित-पर-सुकृत-धर अनघ गति सुलभ-रति वचन-रचना-चतुरविमल-वाणी विशद-कल्पना-पूत।

गोपाल-पद-भक्त गृह-बाल अनुरक्त द्विज-कृत्य-कटिबद्ध सतभाव-प्रेरित-सुकृत सतत-संनद्ध-बाहु दीन-प्रतिपाल जग-जालसुविमुक्त। पर निपट धनहीन से गृह्य व्यवहार मे तदपि अक्षीण थे क्षुण्ण पथ-अनुसरण में न अणुदीन त्यों त्रिजग प्रिय पथ-पथिक संप्रवीण थे।

नाम था कवित्त कमनीय गुण-ग्राममाधुर्य-सम्मिलित महनीयता धामशुचि आर्य सूच्चार्य श्रुति-सुख उर-धार्य बुधवर्य लीलाधर अतीव अभिराम।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

जन्म—वैशाख कृष्ण ३, संवत् १९२२ वि०; निधन—संवत् २००४ वि०।

प्रारम्भ में आपके पूर्वज बदायूं के रहने वाले थे, किन्तु कई पीढ़ियों से आजमगढ़ जिले में बस गये हैं।

उपाध्याय जी सरकारी पद पर रहते हुए भी बराबर साहित्य-सेवा में रत रहे। दिल्ली हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वे सभापति थे। आपने काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक पद को भी विभूषित किया था। 'प्रियप्रवास' आपका एक अमर महाकाव्य है। अतुकान्त कविता में वह सबसे पहला काव्य माना जाता है। इसके कई स्थल ऐसे हृदय-द्रावक हैं कि पढ़ते-पढ़ते कंठ अवरुद्ध हो उठता है। संवत् १९५३ में इस काव्य पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था। इस काल के आप महाकवि माने जाते हैं। आपका 'रसकलश' नामक एक और बहुत ही सुन्दर काव्य है; पर वह ब्रजभाषा में है। पहले आप ब्रजभाषा में ही कविता लिखा करते थे। पीछे से खड़ी बोली में लिखने लगे। बोलचाल की भाषा में भी आपकी रचनाएँ कवित्वमयी होती हैं, 'चोखे चौपदे' तथा 'चुभते चौपदे' ऐसी रचनाओं के संकलित रूप हैं। आपकी इन रचनाओं में बोलचाल के मुहावरों का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। 'वैदेही बनवास' नामक आपका एक और महाकाव्य प्रकाशित हुआ।

उपाध्याय जी गद्य-लेखक भी उच्चकोटि के थे। आपने 'प्रियप्रवास' की भूमिका में हिन्दी-काव्य के विकास पर जो एक विस्तृत निबन्ध लिखा

है, उससे आपकी विवेचना -शैली का अच्छा परिचय मिलता है। बाबू राम-दहिन सिंह-रीडरशिप के सम्बन्ध में पटना-विश्वविद्यालय में आपने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के विकास पर जो लिखित भाषण दिये थे, उनमें भी आपकी भाषा और साहित्य के एक मर्मज्ञ विवेचक के रूप में प्रतिष्ठा हुई है। उत्कृष्ट भाषा लेखन की शैली उत्कट प्रतिभा आप में भी थी, सरल-से सरल भाषा-लेखन में भी वह ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रहती आई हैं। 'अधखिला' फूल' तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

सन् ३८ में आरा नागरी प्रचारिणी सभा ने, आपकी ७०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके आपको सम्मानित किया था। अपने अवकाश का अधिकांश समय आपने हिन्दी साहित्य की सेवा में ही व्यतीत किया।

उपाध्यायजी करुण और वात्सल्य रस के अमर कवि थे। सम्वत् २००४ वि० में आपकी मृत्यु हो गयी।

सौन्दर्य

चतुष्पद

कांत-रविकर-किरीट-कमनीय अलंकृत मंजुल मुक्तामल;
विपुल स्वर्गीय विभूति-निकेतन, कुसुम-कुल-विलसित प्रातःकाल ।।१।।
उषा का जग अनुरंजन-राग; दिग्वधू का विमुग्धकर हास;
पुरातन है, पर है अति दिव्य, और है भव सौदर्य-विकास ।।२।।
लोक का मूर्तिमान आनन्द, अवनि-तल-परस अलौकिक लाल;
बहु-विकच-सुमन-सम्मान प्रफुल्ल, विहँसता भोलाभाला बाल ।।३।।

प्रतिदिवस के विकसे अरविन्द, तरु-निचय किसलय ललित ललाम;
नवल हैं पर हैं रम्य नितान्त वरन हैं अखिल-भुवन-अभिराम ॥४॥

विश्व जन-मोहन हैं सौंदर्य, हृदय-तल अभिनन्दन आधार;
मधुर-तम-मंजु-सुधारस-सिक्त; सरसता युवती का शृंगार ॥५॥

किसी जग ज्योतिमयी की ज्योति इसी में लोचन सका विलोक;
इसी में मिलता है सब काल, लोक को सकल लोक-आलोक ॥६॥

किन्तु उसका अनुपम प्रतिबिंब, कुछ हृदय मलिन-मुकुर में आज;
नहीं प्रतिबिंब होता अल्प, मलिनता के हैं नाना व्याज ॥७॥

सुनाता है कल वेणु-निनाद, सुशोभित है कालिन्दी कूल;
ललित लहरें हैं नर्तनशील, हँस रहे हैं मुँह खोले फूल ॥८॥

सरसता छाई है सब ओर, हो रहा है रस का संचार;
बरसते है सुर सुमन समूह, खुल गया है सुरपुर का द्वार ॥९॥

कल्पना है यह बहु कमनीय, सुधा-रस की है चिर तरंग;
पर न होंगे कुछ हृदय विमुग्ध, क्योंकि यह है प्राचीन प्रसंग ॥१०॥

हो रहा है अतीत संगीत, छिड़ रहा है बहु मोहक तार;
बना है मुख मुग्धता मौन, सुनाती है वीणा झंकार ॥११॥

किन्तु हैं कतिपय ऐसे कान, नहीं है जिनको इनसे प्यार;
सरस को कहता है रसहीन, किसी छाया का क्षोभ अपार ॥१२॥

रूप रमणी का है रमणीय, लोक मोहकता का है सार;
है प्रकृति भाल रुचिर सिन्दूर, काम-कामुकता का आधार ॥१३॥

कलाधर कलित-कांति अवलम्ब, कुसुम-कुल निधि है उसका हास;
जग-सृजन रंजन का सर्वस्व, है वनज-बदनी विविध विलास ॥१४॥

भावमय रचनाएँ हैं भूरि, हुआ जिनमें इनका सुविकास;
किन्तु कुछ रुचियाँ हैं प्रतिकूल, उन्हें कहती हैं कुरुचि-निवास ॥१५॥

अलौकिक रस लोलुप कुछ भृंग, गूँजते हैं करते मधुपान;
लाभकर कतिपय नवल-प्रसून, सज रहा है प्रमोद उद्यान ॥१६॥

कुछ विहग हो-हो विपुल-विमुग्ध, गा रहे हैं गौरवमय राग;
उक्ति अनुपम प्यालों के मध्य, छलक रहा है हृदय-अनुराग ॥१७॥

किन्तु कुछ मानस है न प्रसन्न, मोह से हो-होकर अभिभूत;
सकल भावों में लगा विलोक, न जाने किस छाया की छूत ॥१८॥

उन्ही का है यह अमधुर भाव, जिन्हें हैं सुहृदयता-अभिमान;
हो रहा है वंचित रस-बोध, रसिकता को सिकता अनुमान ॥१९॥

सुनाते फिरते हैं सब लोग, सत्य शिव सुन्दर का शुभ राग;
करेंगे क्यों कर आँखें बन्द, विविध सुन्दर भावों का त्याग ॥२०॥

अमंजुल उर का है यह मोद, मानसिक रुज का है यह रोष;
बनेगा क्या मकरंद-विहीन, मधुरिमा-कांत-कमल का कोष ॥२१॥

घुसे क्यों कलित कुसुम में कोट, रहे क्यों अकलंकित न मयंक;
लाभ क्यों करे मलिन कल्लोल, पूत सलिला सुरसरि का अंक ॥२२॥

कंटकित सुमन समूह मरंद, पान करता है मुग्ध मिलिन्द;
कहीं भी मिले न क्यों सौन्दर्य, तजे क्यों उसको सुहृदय-वृन्द ॥२३॥

मनोभाव

कलेजा मेरा जलता है, याद में किसकी रोता हूँ;
अनूठे मोती के दाने किसलिए आज पिरोता हूँ ॥१॥

फूल कितने मैंने तोड़े, बनाता हूँ बैठा गजरा।
चल रहा है धीरे-धीरे, प्यार दरिया में दिल बजरा ॥२॥

चुने कोमल-कोमल पत्ते, अछूते फल मैंने बीछे;
न जाने क्यों कितनी चाहें, पड़ गई हैं मेरे पीछे ॥३॥

सामने हुए रँगरेलियाँ, रंगते क्यों दिखलाता हूँ;
देख करके खिलती कलियाँ, जिसलिए मैं खिल जाता हूँ ॥४॥

चित्त हरने वाली छवि में, पेड़ की हरियाली है सनी;
बलाएँ किसकी लेने को, वेलियाँ अलवेली हैं बनी ॥५॥

फबन से बड़ी फबीली बन, हँस रही हैं फूली क्यारी;
क्यों बहुत ही मीठे सुर से, गा रही हैं चिड़ियाँ सारी ॥६॥

लहक हैं रही खिची दूबें, हवा है महँक भरी रहती;
भँवर की गूँज कान में क्यों, अनूठी बातें हैं कहती ॥७॥

उमंगें झलकी पड़ती हैं, दिन बहुत लगता है प्यारा;
देखता है किसका पथ क्यों, जगमगा आँखों का तारा ॥८॥

देखता हूँ मैं क्यों सपना, भाग मेरा ऐसा है कहाँ;
सदा ऊसर-ऊसर ही रहा, मिली कब केसर क्यारी वहाँ ॥९॥

कलेजा मेरा पत्थर है, आँख का आँसू है पानी;
हवा बन जाती है आहें, पीर क्यों जाए पहचानी ॥१०॥

यशोदा-उद्धव-संवाद

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और आनन्द तो हैं।
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है दनाती ?
ऊधो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो ?
हो जाती हैं हृदय-तल में तो नहीं वेदनाएँ ?

मीठे मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना।
उत्कंठा के सहित सुत को कौन होगी खिलाती ?

प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था।
हा ! पाता है न अब उसको प्राण-प्यारा हमारा।

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उसकी माँगने में सदा थी।

जैसे लेके सुरुचि सुत को अंक में मैं खिलाती,
हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन वामा सकेगी।

मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही विताती।
हो जाती थी व्यथित उसकी म्लान जो देखती थी।

हा ! वैसे ही अब वदन को देखती कौन होगी।
ऊधो, माता सदृश ममता अन्य की है न होती।

खाने, पीने, शयन करने आदि की एक बेला।
हो जाती थी कुछ टल कभी, खेद होता बड़ा था।

ऊधो ! ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी।
माता की-सी अवनितल में अमाता न होती।

जो पाती हूँ कुँवर मुख के जोग मैं भोग प्यारा;
तो होती है हृदयतल में वेदनाएँ बड़ी ही।

जो कोई भी सुफल सुत के योग्य मैं देखती हूँ;
हो जाती हूँ व्यथित अति ही दग्ध होती महा हूँ।

जो लाती थी विविध रंग के मुग्धकारी खिलौने,
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी-सी।

हा ! जाती हैं पलट जब वे ही निराशा-निमग्ना,
तो उन्मत्ता-सदृश मग की ओर मैं देखती हूँ।

आते लीला-निपुण नट हैं आज भी बाँध आशा,
कोई यों भी न अब उनके खेल को देखता है।

प्यारे होते मुदित जितने कौतुकों से सदा थे,
वे आँखों में विषम दव हैं दर्शकों के लगाते।

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था,
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।

ये बातें है सरस नवनी देखते याद आतीं,
हो जाता है मधुरतम औ' स्निग्ध भी दग्धकारी।

हा ! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी,
सो आले में मलिन बन औ' मूक होके पड़ी है।

जो छिद्रों से अमिय बरसा मूर्ति थी मुग्धता की,
सो उन्मत्ता परम विकला उन्मना है बनाती॥

प्यारे ऊधो ! सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का ?

रो-रो होके विकल अपने बार जो हैं बिताते,
हा ! वे सीधे सरल शिशु है क्या नहीं याद आते ?

कैसे भूलीं सरस खनि सी प्रीति की गोपिकाएँ ?
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोप-ग्वाले ?

शांता धीरा मधुर-हृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा।
कैसे भूलीं प्रणय-प्रतिमा राधिका मोहमग्ना ?

कैसे वृन्दा-विपिन विसरा, क्यों लता वेलि भूलीं ?
कैसे जी से उतर सिगरी कुंज-पुंजे गई हैं।

कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले ?
कैसे भूला विकच-तरु सी कालिंदी कूलवाला ?

सोती-सोती चिहुँचकर जो श्याम को है बुलाती,
ऊधो, मेरी यह सदन की सारिका कांत-कंठा।
पाला-पोसा प्रतिदिन जिसे श्याम ने प्यार से है,
हा ! कैसे सो हृदयतल से दूर यों हो गई है ?
कुंजों-कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया,
जो प्यारी थीं परम ब्रज के लाड़िले को सदा ही।
खिन्ना, दीना, विकल वन में आज तो घूमती हैं,
ऊधो ! कैसे हृदय-धन को हाय वे धेनु भूलीं ?

—'प्रियप्रवास' से

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

जन्म—श्रावण शुक्ल १३, संवत् १९४० वि०; निवास-स्थान—हड़हा, जिला उन्नाव।

सनेही जी खड़ी बोली के उदयकालीन कवियों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। हिन्दी के अतिरिक्त आप उर्दू में भी अच्छी कविता लिखते हैं। उर्दू तथा हिन्दी के अच्छे पण्डित है और संस्कृत भी जानते हैं। आप पहले उन्नाव जिले के वर्नाक्यूलर फाइनल स्कूलों में सेकेन्ड मास्टर, हेडमास्टर तथा उन्नाव ट्रेनिग स्कूल के हेडमास्टर भी रह चुके हैं। आजकल आप कानपुर में ही साहित्यिक जीवन लाभ करते हैं। आपकी लिखी 'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक-क्रन्दन' तथा 'त्रिशूल-तरंग' पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त आपकी कुछ पुस्तकें अभी अप्रकाशित भी हैं।

सनेही जी तत्काल रचना में भी बड़े सिद्धहस्त हैं। भरतपुर में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर जो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन

हुआ था, उसके आप सभापति थे। और अब तक तो आप पचीसों कवि-सम्मेलनों के सभापति हो चुके है। आप एक प्रतिभाशाली कवि, स्वभाव के विनोदी तथा उदार हैं। आप 'सुकवि' नामक एक कविता सम्बन्धी मासिक पत्र के संचालक और सम्पादक बहुत दिन रह चुके हैं।

सनेही जी पहले ब्रजभाषा मे कविता लिखते थे। पीछे से खड़ी बोली के उदय से प्रभावित होकर उसके ऐसे आत्मीय बन गये कि आगे बढ़कर एक स्तम्भ प्रमाणित हुए। आप कवि तो हैं ही, कवि-निर्माता भी हैं। अनेक नवयुवक आपके प्रोत्साहन तथा निर्देशन से आगे आकर आज हिन्दी की गौरव-वृद्धि कर रहे हैं।

सनेही जी देश के नवजागरण में जब से 'त्रिशूल' रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, तब से यद्यपि वीर रस की ही अभिवृद्धि कर रहे हैं, तथापि करुणरस पर आपका स्थिर अधिकार है। छप्पय, सवैया तथा घनाक्षरी छन्दों में आपकी अतीव सुन्दर रचनाएँ है।

कौशल्या विलाप

तन मन जिस पै मैं वारती थी सदैव,
वह गहन वनों में जायगा हाय दैव!
सरसिज तन हाहा कण्टकों मे खिचेगा।
घृत, मधु पय-पाला स्वेद ही से सिचेगा!
यह हृदय-विदारी दृश्य मैं देखती हूँ।
पवि-हृदय बनी हूँ, आज भी जी रही हूँ।
खल, पतित, अभागे प्राण जाते नहीं क्यों?
रहकर तन मे वे है लजाते नहीं क्यो?
मणि-महल निवासी कन्दरा में रहेगा!
बन परम उदासी कन्दरा में रहेगा?
मृदु-पद-तल वाला कंकड़ों मे चलेगा।
तज मखमल आला कंकड़ों मे चलेगा।

नव-नव रस भोजी खायगा कन्दमूल।
जब तक न मिलेगा नित्य इच्छानुकूल।

मृदु-सुमन बिछौने जो बिछाता रहा था।
वह अजिन बिछाये, भाग्य में यों बदा था?

नर-पति सुत होके यों उदासी बनेगा?
यह खबर किसे थी दैव ऐसा तनेगा?

पल-पल भर ही थी मैं उसे देख लेती।
उस पर अपना मैं वार सर्वस्व देती।

वह मुझ दुखनी के नेत्र की ज्योति ही था।
बस अधिक कहूँ क्या, जान था और जी था।

वन-वन फिरने को जायगा लाल मेरा?
विधि कुटिल करेगा हाय, क्या हाल मेरा?

सुत-मुख न विलोके चैन कैसे पड़ेगी?
निज सब कुछ खोके चैन कैसे पड़ेगी?

वह धन छविवाला सामने जो न होगा।
वह मम पयवाला सामने जो न होगा।

वह मृगदृगवाला दृष्टि से जो हटेगा।
यह कठिन कलेजा क्यों न मेरा फटेगा?

वह मृदु मुस्काता जो न 'माता' कहेगा।
फिर सुख मुझको क्या प्राण रखके रहेगा?

फिर मधुर मलाई मैं किसे हाय, दूँगी?
वर विविध मिठाई मैं किसे हाय, दूँगी?

मन मृदु वचनों से कौन मेरा हरेगा?
यह हृदय दुखी हो धैर्य कैसे धरेगा?

प्रतिपल किस पै मैं प्राण वारा करूँगी ?
मुख छवि किसकी मैं हा; निहारा करूँगी ?
विधि ! यदि जगती में जन्म मेरा न होता
कुछ रुक रहता क्या, कार्य तेरा न होता।
दुख विषम सहाने के लिए था बनाया।
यह दिन दिखलाने के लिए था बनाया।
गुण-गण जिसके हैं गा रहा आज लोक;
वह सुत बिछुड़ेगा शोक ! हा हन्त ! शोक ?
वह नृप-पद पावे, मैं नहीं चाहती थी।
दुख भरत उठावें मैं नहीं चाहती थी।
सुरपति पदवी भी तुच्छ मैं मानती थी।
बढ़कर सबसे मैं राम को जानती थी।
सिर मुकुट बिना ही क्या न शोभा सना है ?
वह गुण-गरिमा से क्या न राजा बना है ?
भुज-बल समता में लोक में है न वीर;
रण-सुभट यथा है, है यथा धर्मवीर।
रति-पति-मदहारी रूप भी है सलोना,
वह सुरभि-सना है और है मंजु सोना।
प्रिय सुत वह मेरा वेष धारे यती का,
निज नयन निहारूँ, दोष है भाग्य ही का।
उर उपल धरूँगी और मैं क्या करूँगी,
विधि-वश दुख ऐसे देख के ही मरूँगी।
विधि ! सहृदय हो तो प्रार्थना मान जाओ,
अब तुम मुझको ही मेदिनी से उठाओ।

मम प्रिय सुत छूटा, साथ ही देह टूटे,
पल भर जननी का स्नेह नाता न टूटे।
फल निज सुकृतों का हाय मैं पा रही हूँ;
पर, विधि पर सारा दोष मैं ला रही हूँ।
उर व्यथित महा है, ज्ञान जाता रहा है,
सदय विधि क्षमा दे ध्यान जाता रहा है।
पर, विनय न मेरी हे विधाता! भुलाना!
मम सुत मितभोजी, तू न भूखा सुलाना।
दुख उस पर कोई और आने न पावे;
मम कुँवर कन्हैया कष्ट पाने न पावे;
युग-युग चिर जीवे, लोक मे नाम होवे;
फिर घर फिर आवे, राम ही राम होवे।
किस विधि दुख झेलू आर्ति कैसे घटेगी।
यह अवधि बड़ी है, हाय कैसे कटेगी?
पल-पल युग होगा याम तो कल्प होंगे;
दिन-दिन दुख दूना कष्ट क्या अल्प होंगे?
मति-हत दुख दीना धैर्य कैसे धरूँगी।
सुध कर-कर सुत मै हाय रो-रो मरूँगी।
वह सुघर सलोना अम्ब का प्राण प्यारा।
वह सुरभित सोना अम्ब का प्राण-प्यारा॥
वह दृढ़ प्रण-पाली नीतिशाली कहाँ है?
वह हृदयलता का मंजु माली कहाँ है?
वह प्रबल प्रतापी हंस-वंशी कहाँ है?
वह खल-गण-तापी विष्णु-अंशी कहाँ है?
तन सघन घटा-सा श्याम प्यारा कहाँ है?
वह अवधपुरी का राम प्यारा कहाँ है!

यह मुझ जननी का चक्षु-तारा कहाँ है?
वह तन-मन मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है?
वह कलरव-केकी बोलता क्यों नहीं है?
अब मधु श्रवणों में घोलता क्यों नहीं है?
वन क्षण-भर में ही क्यों गया हाय, प्यारा?
अब मुझ दुखनी को क्या रहा है सहारा?
फिर मम सुत कोई पास मेरे बुला दे,
शशि मुख वन जाते देख लूँ, आ दिखा दे।
निज हृदय लगा लूँ ताप सारा मिटा लूँ;
फिर लख उसको मैं चित्त में चैन पा लूँ।
घर दुखद बना है जो कि था मोदधाम;
मम प्रिय सुत हा! हा! राम! हा! राम!
यह कह कर रानी हो गई चेतहीन—
जैसे जल तज कर खिन्न हो मीन दीन।

बुझा हुआ दीप

करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तम-तोम का काम तमाम किया; दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की ओर, सनेह में जी मैं जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नही, पथ सकड़ों को दिखला चुका हूँ।
जगती का अँधेरा मिटाकर आँखों में आँख की तारिका होके समावे।
परवा न हवा की करे कुछ भी, भिड़े आके जो कीट पतंग जलावे।
निज ज्योति से दे नवज्योति जहान को, अन्त में ज्योति में ज्योति मिलावे।
जलना हो जिसे वो जले मुझ-सा, बुझना हो जिसे मुझ-सा बुझ जावे।
लघु मिट्टी का पात्र था, स्नेह भरा, जितना उसमें भर जाने दिया।
घर बत्ती हिये पर कोई गया, चुपचाप उसे घर जाने दिया।

पर-हेतु रहा जलता मैं निशा भर, मृत्यु का भी डर जाने दिया।
मुसकाता रहा बुझते-बुझते, हँसते-हँसते सर जाने दिया।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

जन्म—संवत् १९४३ विक्रमी; जन्मस्थान—चिरगाँव, जिला झाँसी। मृत्यु—अगहन सुदी अष्टमी, सं० २०२१ वि०।

गुप्त जी का इस काल के खड़ी बोली के कवियों में बहुत ऊँचा स्थान था। वे संस्कृत तथा बंगला अच्छी तरह जानते थे। उनके द्वारा लिखित मौलिक तथा अनुवादित काव्य ग्रन्थों की संख्या पचास के लगभग है; जिनमें कुछ नाटक तथा स्फुट रचनाओं के संग्रह भी हैं। उनके आदिकालीन काव्य ग्रन्थों में 'भारत भारती' ने बहुत मान पाया; पर कविता की मनोहरता की दृष्टि से 'जयद्रथ वध' बहुत सुन्दर काव्य है। उनकी कविताओं ने नवयुवकों में राष्ट्रीय भावों के जागरण का बहुत बड़ा काम किया है। 'साकेत' उनका एक महाकाव्य है। हिन्दी-काव्य-जगत् में ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न इधर अनेक वर्षों से नहीं हुआ था। इस पर उनको हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हो चुका है। जीवन के पचासवें वर्ष की समाप्ति पर हिन्दी-जगत् ने उनकी जयन्ती मनाई और 'मैथिली मान-ग्रन्थ' भेंट कर उनका अभिनन्दन किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी जयन्ती धूमधाम से मनाकर उन्हें दस हजार की थैली भेंट की।

इधर की कृतियों में 'द्वापर' तथा 'यशोधरा' गुप्त जी के अतीव सुन्दर काव्य हैं। मंगल-घट में उनकी पुरानी कविताओं का संकलन हुआ है। खड़ीबोली के उदयकाल से लेकर आज तक बराबर, एक-सी गति से वे हिन्दी काव्य की अभिवृद्धि करते आये थे। उनकी किसी भी रचना में कवि के स्वरूप की ज्योति मन्द नहीं पड़ी, ऐसी अद्‌भुत प्रतिभा उनमें थी। उदय-कालीन धारा के कवियों में सबसे अधिक व्यापक क्षेत्र उन्हीं का है। एक

कलाकार की भाँति जीवन के भीतर से गुनगुनाने की सतत चेष्टा उनके काव्य में वर्तमान है।

गुप्त जी हिन्दू-संस्कृति की सात्विक भावनाओं के सर्वाधिक सफल कवि थे।

यशोधरा

सिद्ध हेतु स्वामी गए यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा आघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना!
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते। सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती है रण में,
क्षात्र-धर्म के नाते। सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
हुआ न यह भी भाग अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा।
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहे स्मरण ही आते। सखि वे मुझ से कहकर जाते।
नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते;
पर इनसे आँसू जो कहते?
सदय हृदय वे कैसे सहते?
गए तरस ही खाते। सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जायँ सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?—
आज अधिक वे भाते। सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
गये, लौट भी वे आवेंगे।
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे।
रोते प्राण उन्हें पावेंगे।
पर क्या गाते-गाते ? सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

उर्मिला

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला-बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन पटु तुम कटु गरल न गारो।
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर विन्दु यह, यह हर नेत्र निहारो।
रूप दर्प कन्दर्प तुम्हें, तो मेरे पति पर वारो।
लो यह मेरी चरण धूलि, उस रति के सिर पर धारो।

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल, तारे मण्डल है,
बन्दी विविध विहंग, शेष-फन सिहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस देश की।
हे मातृभूमि तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥१॥

मृतक समान अशक्त, विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था।
लेकर अपने अतुल अंग में त्राण किया था।

जो जननी का भी सर्वदा, थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो, मातृभूमि मातामही ॥२॥

जिसकी रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं।
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूलि भरे हीरे' कहलाये।

हम खेले कूदें हर्ष-युत, जिसकी प्यारी गोद में!
हे मातृभूमि! तुझको निरख, मन क्यों न हो मोद में॥३॥

पालन-पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षःस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही।
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझी से तुझ पर सारे।

हे मातृभूमि! जब हम कभी, शरण न तेरी पायेंगे,
बस तभी प्रलय के पेट में, सभी लीन हो जायेंगे॥४॥

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती,
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है।
श्रेष्ठ एक-से-एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेमभाव से सदा हमारा।

हे मातृभूमि! उपजे न तो, तुझसे कृषि-अंकुर कभी।
तो तड़प-तड़प कर जल मरें, जठरानल में हम सभी॥५॥

तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा?
पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा।
तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुई है,
बस तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है।

फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी।
हे मातृभूमि! यह अन्त में तुझ में ही मिल जायगी॥६॥

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता।
जिन प्रेमी का प्रेम हमें मुद-दायक होता।
जिन स्वजनो को देखकर हृदय हर्षित हो जाता।
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता।

उन सब में तेरा सर्वदा व्याप्त हो रहा तत्व है।
हे मातृभूमि! तेरे सदृश किसका महान महत्व है॥७॥

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है।
हरियाली का फर्श नही मखमल से कम है।

शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।
हे मातृभूमि! दिन में तरणि करता तम का नाश है॥८॥

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति-भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं,
औषधियाँ हैं प्राप्त एक-से-एक निराली,
खानें शोभित कही धातु वर-रत्नों वाली,

आवश्यक जो होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृभूमि! 'वसुधा', 'धरा' तेरे नाम यथार्थ हैं॥९॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी।
नदियाँ पैर पखार रही हैं, बनकर चेरी।
फूलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी।

मृदु मलय-वायु मानों तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही।
मातृभूमि! किसका न तू, सात्विक भाव बढ़ा-रही।।१०।।

क्षमामयी तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।
विभवशालिनी; विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भय-निवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।

हे शरणदायिनी देवि! तू करती सबका त्राण है।
हे मातृभूमि! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है।।११।।

आते ही उपाकार याद हे माता! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा।
तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
मन तो होता तुझे उठाकर शीश चढ़ावें।

वह शक्ति कहाँ हा क्या करें, क्यों हमको लज्जा न हो?
हम मातृभूमि! केवल तुझे, शीश झुका सकते अहो।।१२।।

कारण-वश जब शोकदाह से हम दहते हैं,
तब तुझ पर ही लोट-लोट कर दुख सहते हैं।
पाखंडी भी धूल, चढ़ाकर तन में तेरी,
कहलाते हैं साधु नहीं लगती है देरी।

इस तेरी ही धूलि में मातृभूमि! वह शक्ति है।
जो क्रूरों के भी चित्त में उपजा सकती भक्ति है।।१३।।

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय! देखता वह सपना है।
तुझको सारे जीव एक से ही प्यारे हैं;
कर्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे-न्यारे हैं।

हे मातृभूमि! तेरे निकट, सब का सम सम्बन्ध है।
जो भेद मानता वह अहो! लोचनयुत भी अन्ध है॥१४॥

जिस पृथ्वी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान! कभी हम रहें न न्यारे।
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
लोट-लोट कर वहीं हृदय को शांत करेंगे।

उस मातृभूमि की धूलि में जब पूरे सन जायँगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे॥१५॥

पंडित रामनरेश त्रिपाठी

जन्म—संवत् १९४६ वि०, जन्मस्थान—कोइरीपुर, जिला जौनपुर। मृत्यु—२०१८ वि०।

खड़ी बोली के उदयकालीन कवियों में त्रिपाठी जी ही एक ऐसे रहे हैं, जिन्होंने केवल काव्य लिखकर संतोष न करके साहित्य के अन्य अंगों को भी सँवारने का सतत उद्योग किया है। आपने कहानी तथा नाटक लिखे और अनुवाद, टीकाएँ तथा समालोचनाएँ भी। इतना ही नहीं, बालोपयोगी साहित्य-निर्माण में भी आप बहुत कृतकार्य हुए। आपने अपनी योग्यता, परिश्रम, साहित्य-प्रेम और अध्यवसाय के बल पर प्रयाग में 'हिन्दी मन्दिर' जैसी प्रकाशन-संस्था को जन्म देकर प्रतिष्ठित किया।

त्रिपाठीजी एक स्वप्नदर्शी कवि थे। 'पथिक' 'मिलन', और 'स्वप्न' नामक काव्यों से आप एक स्वप्नद्रष्टा के रूप में पाठक के निकट पहुँचते

हैं। त्याग, उत्सर्ग आपके इन काव्यों में आदर्श हैं। स्फुट रचनाओं में त्रिपाठी जी ने अपनी विनोदप्रियता का भी अच्छा परिचय दिया है।

'तुलसीदास और उनकी कविता' नामक अपने महत् ग्रंथ में त्रिपाठी जी एक समीक्षाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। आपके निष्कर्ष इस ग्रंथ में यद्यपि कहीं-कहीं अतिरंजित भी जान पड़ते हैं, पर यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आपने तुलसी-साहित्य का अध्ययन बहुत मनोयोगपूर्वक किया है और आपके विचार आधारपूर्ण हैं।

त्रिपाठी जी का स्थान खड़ी बोली के उदयकालीन कवियों में सबसे पृथक् है। यदि उनकी प्रतिभा का उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित न हो गया होता, तो निस्सन्देह वे सर्वाधिक लोकप्रिय होते।

अन्वेषण

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में।

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
आँखें लगी थीं मेरी तब मान और धन में।

दुख से रुला-रुलाकर तूने मुझे चिताया।
मैं मस्त हो रहा था तब हाय, अंजुमन में।
बाजे बजा-बजाकर मैं था तुझे रिझाता।
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में।

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था जब तू किसी पतन में।
तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के।
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन में?

तू ने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में।
हरिचन्द और ध्रुव ने कुछ और ही बताया।
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में।

तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फरहाद कोहकन में।
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तू ही।
तू अंत से हँसा था महमूद के रुदन में।

प्रहलाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में।
आखिर चमक पड़ा था गाँधी की हड्डियों में।
मैं तो समझ रहा था सुहराव पील-तन में।

कैसे तुझे मिलूँगा जग भेद इस कदर है।
हैरान होके भगवन, आया हूँ मैं सरन में।
तू रूप है किरन में, सौंदर्य है सुमन में।
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।

तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में।
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में!
हे दीनबन्धु! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू!
देखूं तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में॥

कठिनाइयों, दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में।
दुख में न हार मानूँ सुख में तुझे न भूलूँ;
ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन में।

ज्ञान का दण्ड

(१)

सावन के श्याम घन-शोभित गगन में,
धरा में हरे कानन विमुग्ध करते है मन;
बकुल-कदंब की सुगन्ध से सना समीर,
पूरब से आकर प्रमत्त करता है तन!
पर दूसरे ही क्षण आकर कहीं से घूम,
जाते हैं नयन में अकिंचन किसान जन,
सारे सुख-साज बन जाते हैं विषाद-रूप,
ज्ञानी को है ज्ञान दंड, सुखी है विमूढ़ जन ॥१॥

(२)

देखते हैं मृग, याद आती मृगलोचनी है,
फिर भूखे भारत के दृग, याद आते हैं,
केकी के कलाप कोकिला के कल गान में,
विलाप विधवा का सुन अति अकुलाते है।
अत्याचार-पीड़ित किसान के रुदन में,
पयोद के विनोद हम भूल जाते हैं,
भोग सकते न सुख, त्याग सकते न दुख,
यों ही दुविधा में पड़े जीवन बिताते हैं ॥२॥

आकांक्षा

होते हम हृदय किसी के विरहाकुल जो,
होते हम आँसू किसी प्रेम के नयन के।

पूरे पतझड़ में बसंत की बयार होते।
होते हम जो कहीं मनोरथ सृजन के।
दुख दलितों में हम आशा की किरन होते।
होते पछतावा अविवेकियों के मन के।
मानते विधाता का बड़ा ही उपकार हम।
होते गाँठ के धन कहीं जो दीन जन के।।

स्वप्न

अतिशय चपल रजत सम उज्ज्वल निर्झर तनया के तट-पथ पर
युवक वसन्त भाव-भारान्वित दृग के अर्द्ध कपाट बन्द कर
विचरण में था निरत एक दिन मन्द-मन्द धर चरण कोकनद
मानों द्रुमदल-लसित शैल पर क्षीर-कांतिमय नूतन नीरद ।।१।।

सोच रहा था—भूतल पर यह किसकी प्रेम कथा है विचित्रित ?
अम्बर के उर में किस कवि के हैं गम्भीर भाव एकत्रित ?
किसकी सुखनिद्रा का मधुमय स्वप्न-खण्ड है विशद विश्व यह ?
जग कितना सुन्दर लगता है ललित खिलौनों का-सा संग्रह ।।२।।

बार-बार अंकित करता ऋतुओं में सविता किसकी छवि ?
मोहित होता है मन ही मन देख-देख किसकी क्रीड़ा कवि ?
है वह कौन रूप का आगर जिसके मुख की कान्ति मनोहर ?
देखा करती हैं सागर का व्यग्र तरंग उचक-उचक कर ।।३।।

घन में किस प्रियतम है चपला करती है विनोद हँस-हँसकर ?
किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर श्रृंगार मनोहर ?
मंजु मोतियों से प्रभात में तृण का मरकत-सा सुन्दर कर
भरकर कौन खड़ा करता है, किसके स्वागत को प्रतिवासर ।।४।।

प्रातःकाल समीर कहाँ से उपवन में चुपचाप पहुँचकर,
क्या सन्देश सुना जाता है, घूम-घूम प्रत्येक द्वार पर ?

फूलों के आनन अचरज से खुल पड़ते हैं जिसे श्रवणकर
थामे नहीं हँसी थमती है, मुँह मुँदते ही नहीं जन्म भर ॥५॥

मारुत जिसके पास राज-कर फूलों से परिमल को लेकर
जाता है प्रति दिव्य कहाँ वह करता है निवास राजेश्वर?
किसके गान-यन्त्र हैं पक्षी, नभ, निकुञ्ज, सर में, पर्वत पर
मधुर गीत गाते रहते हैं इधर-उधर विचरण कर दिन भर ॥६॥

मैदानों की ओर घाटियों के पथ से अविराम चपल गति
पवन घनों को हाँक रहा है पाकर के किस प्रभु की अनुमति?
ढके हुए हैं गिरि-शिखरों को प्रचुर तुहिन पथ फेन-राशि-सम
शैल देख खिलखिला रहा है मानों कोई दृश्य मनोरम ॥७॥

अति उत्तुंग ऊर्मिमय फेनिल सिन्धु शापवश मानों जमकर
हिम पर्वत बन गया यकायक तृण-तरु गुल्म-लता हैं जलचर
किसके चिन्ता-शमन अलौकिक मधुर गान से कान लगाकर
ज्ञान भूल कर निज तन का क्यों है नीरव निस्तब्ध महीधर ॥८॥

सत्पुरुषों के मनोभाव-सा सरल विमल निरमल कलरवमय
अपनी ही गति में निमग्न है धारा-गत उज्ज्वल फेनिल पय
पुष्प-भार से अवनत पौधों से सुखप्रद सुवास संचय कर
आती है मारुत की लहरें मन्थर गति से मनोव्यथा-हर ॥९॥

ठाकुर गोपालशरण सिंह

जन्म—पौष शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९४८; निधन—संवत् २०१७

संस्कृत में कुछ योग्यता प्राप्त करने के बाद अंग्रेजी की पढ़ाई प्रारम्भ की ओर सन् १९१० में मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की। आप रीवाँ-राज्यान्तर्गत प्रथम कक्षा के सुप्रतिष्ठित इलाकेदारों में थे। नईगढ़ी का इलाका बहुत

प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है। उसके आप स्वामी रहे हैं। अपनी सहृदयता, परदुःखकातरता तथा उच्च विचारों के कारण अपनी प्रजा में आप सर्वप्रिय रहे हैं। बाल्यकाल से ही आपको कविता से प्रेम रहा है। संवत् १९८२ में आप उस अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन के सभापति हुए थे, जो वृन्दावन में हुआ था। आप एक लब्धप्रतिष्ठित कवि, विद्याव्यसनी, उदार-चरित और सहृदय व्यक्ति थे। १९१२ ई० से खड़ी बोली में आपकी कविताएँ प्रकाशित होती रही हैं।

स्व० ठाकुर साहब के घनाक्षरी छन्द खड़ी बोली में सरसता की दृष्टि से आदर्श हैं। कुछ आलोचकों का मत है कि घनाक्षरी का ऐसा परिष्कृत रूप उदयकालीन धारा के किसी भी कवि की रचना में नहीं मिलता।

'माधवी', 'कादम्बिनी' तथा 'मानवी' आदि कविता-संकलनों में आपकी बड़ी कोमल सरल कविताएँ मिलती हैं। 'मानवी' में नारी जीवन के अश्रु-विगलित स्वरूप के बड़े ही मर्मस्पर्शी गान हैं।

गाँधी जी के विराट व्यक्तित्व को लेकर 'जगदालोक' नाम से इन्होंने एक प्रबन्ध-काव्य भी लिखा है।

स्व० श्री मैथिलीशरण गुप्त की भाँति ठाकुर साहब हमारे चिर नवीन कवि थे। सं० २०१७ वि० में आपका स्वर्गवास हो गया।

उन्माद

जब नहीं आकर किया तुमने हृदय में वास,
हो अधीर स्वयं वह तब तुम्हारे पास
पर न मुझको पा सका, की यदपि बहुत तलाश
लौट आया अन्त में होकर अतीव हताश ॥१॥
दृष्टिगोचर हो न तुम कहते तभी मतिमान,
सत्य हम भी क्यों न फिर यह बात लेते मान।
लोचनों को मूँद कर करने लगे हम ध्यान,
हाथ तो भी कुछ हमें न हुआ तुम्हारा ज्ञान ॥२॥

चित्त देकर और सुन लो एक दिन की बात,
सो रहे थे हम पड़े, बीती बहुत थी रात।
सामने तुम हो खड़े ऐसा हुआ कुछ ज्ञात,
किन्तु जब आँखें खुली तव हुआ वज्र-निपात ॥३॥

खिलखिलाकर हम कभी हँसते बहुत साह्लाद,
और रोते हैं कभी पाकर अतीव विषाद।
प्रेम-वश करते तुम्हारा हम सदा गुणवाद,
लोग क्यों कहते भला हमको हुआ उन्माद ॥४॥

हा निराश हृदय हुआ है अब अतीव अधीर,
किन्तु सूखा जा रहा है क्यों सदैव शरीर?
लोचनों को क्या व्यथा है जो बहाते नीर?
क्या इन्हें भी लग गया है, प्रेम का वह तीर ॥५॥

सोच लो कब के बने हैं हम तुम्हारे दास,
क्यों हमें तुम कर रहे फिर बार-बार निराश।
बस तुम्ही कह दो जहाँ पर है तुम्हारा वास,
है पहुँचता प्रेम का भी क्या वहाँ न प्रकाश ॥६॥

कर रहे कब से तुम्हारे हम गुणों का गान;
पर तुम्हें भी क्या कभी आया हमारा ध्यान।
दो बता हमको तुम्हारा है जहाँ संस्थान,
किस तरह होती वहाँ है प्रेम की पहचान ॥७॥

कुछ समझते ही परम शास्त्रज्ञ ज्ञान-निधान?
पर नहीं उनको तनिक भी है तुम्हारा ज्ञान।
देखकर यह बन गए हम अज्ञ मूढ़ महान्
हाय! तो भी चित्त में न हुआ तुम्हारा भान ॥८॥

यद्यपि अब तक है हुई तुमसे नहीं पहचान
किन्तु तुम सहृदय सरस हो है यही अनुमान।
अब अधिक जाता सहा न वियोग दुःख महान्;
दे हमे दर्शन करो अब तो कृतार्थ सुजान।।९।।

अनन्त जीवन

पावन प्रेम-सदन, है अनन्त जीवन।
विश्वमोहिनी सुन्दरता का पद-पद प्रसरण।
चूमा करती हैं रवि-किरणे जिसके चारु चरण।
जगच्छवि अवलोकन, है अनन्त जीवन।

है पल्लवित विटप-शाखाएं, कुसुमित हैं कानन,
मधु मकरन्द दान करता है खिल-खिल सुमन-सुमन!
कोकिल कल-कूजन, है अनन्त जीवन।

रवि के सुखकर कर-स्पर्श से परम प्रफुल्ल बदन;
खिली कमल कलियाँ हैं सर में अनुपम शोभा-घन।
मधुप मधर-गुञ्जन, है अनन्त जीवन।

पिता प्रेम-पादप से विकसित मंजुल, मृदुल सुमन;
माता-हृदय-सिंधु से निकला चिर रत्न-द्युति घन।
शैशव जन-रंजन, है अनन्त जीवन।

नयी उमंग, तरंग नयी है, नया हृदय-कम्पन;
है जीवन आशा-अभिलाषा नयी प्रेम-बन्धन।
जग का नव यौवन, है अनन्त जीवन।

है अनुभव-भण्डार, ज्ञान का आकर बूढ़ापन;
जिसमें बस अतीत सुख स्मृतियाँ हैं चिरसंचित घन।
मनन और चिन्तन, है अनन्त जीवन।

रवि शशि का विनिमय करती है दिवा-निशा प्रतिदिन
सायं-प्रातः विश्व का मुख है धोता तरल तुहिन।
रजनी-दिवस-मिलन, है अनन्त जीवन।

कलियों की कोमल चितवन है, वन-वभव वन्दन;
तरु-पातों का मृदु मर-मर है, जग छवि अभिनन्दन।
दिव्य रूप-दर्शन, है अनन्त जीवन।

सावन की रिमझिम घन-चुम्बित चपला की चितवन,
वन्य विहगियो का कल कूजन शस्यावलि शोभन।
मन मयूर-नर्तन, है अनन्त जीवन।

मृदु साकार भव्य भोलापन शैशव भव-मोहन,
उर उल्लास विश्व का विस्मय, प्रेम गगन-छवि घन।
जग का तुतलापन, है अनन्त जीवन।

मृदु सौरभ अर्पण करती है सुरभित मलय पवन,
तरु-शाखाएँ उसे चढ़ाती हैं, फल-पत्र सुमन।
विश्वदेव वन्दन है अनन्त जीवन।

आशा और निराशा का है उर क्रीड़ा-कानन;
शान्ति-अशान्ति विकास-ह्रास का जग ही है आँगन!
सुख-दुख आवर्तन, है अनन्त जीवन।

दोनों का दुःखमय जीवन है निर्मल शून्य गगन;
तीव्र ज्योति से विकल नयन हैं पीड़ित है तन-मन।
व्यथित-हृदय-स्पंदन, है अनन्त जीवन।

कठिन जेठ की दोपहरी में तप्त धूलि में सन,
कृषक तपस्वी तप करते है तप से स्वेदित तन।
श्रम-सीकर कण-कण है अनन्त जीवन।

निष्ठुर निर्दयता का नर्तन, पशुता का तर्जन;
बर्बरता की घोर घटा का वज्रनाद गर्जन।
वसुधा-उर-कम्पन, है अनन्त जीवन।

जग का विकसित सरसिज आनन सजल-सरोज-नयन;
योगी और वियोगी जन का हर्षित क्लेशित मन।
हास-विलास-रुदन, है अनन्त जीवन।

त्याग-सुगन्धि-सुवासित विकसित शुचि अनुराग-सुमन;
दया-द्रवित विस्फुरित दृगों का सकरुण अवलोकन।
पर-दुख-कातर मन है अनन्त जीवन।

गति से प्रगति, प्रगति से अवगति, अवगति से चिन्तन;
निखिल-निरीक्षण, मनन-विवेचन, पठन और पाठन।
ज्ञान-जलधि-मंथन, है अनन्त जीवन।

नीति निदर्शन, सत्य समर्थन नय का अनुमोदन,
पावन प्रेम सिंधु अवगाहन सज्जन संकीर्तन।
पर हित सम्पादन, है अनन्त जीवन।

लोभ मोह विद्रोह विसर्जन, प्रेम प्रसून चयन;
अनुसंधान और अन्वेषण सतत आत्मचिन्तन।
प्रिय दर्शन अनयन, है अनन्त जीवन।

नन्दलाल

जाना भी तुम्हें था तो भुलाना था हमें न कभी;
क्या नहीं तुम्हें था फिर लौट कर आना भी?
तुमने सभी से यहाँ प्रीति थी बढ़ाई खूब;
क्या नही तुम्हें था फिर उसको निभाना भी?

होकर निष्ठुर तुम हमको खिजाते रहे—
सीख गए अब तुम हमें कलपाना भी?
तोड़ोगे कहो क्या निज नाता ब्रजवासियों से
छोड़ोगे भला क्या नन्दलाल कहलाना भी?

शिशु

छहर रही है एक सुन्दर नवीन छटा,
सुमन-समान सुकुमार अंग-अंग में।
आज कुछ और, कल और ही है मंजु छबि,
मानों रंगता है कोई नित्य नये रंग में।
जानें जिन्हें जानने का दावा रहता है सदा,
शिशु है निमग्न किस भाव की तरंग में।
सोच-सोच हार गया समझ न पाया कभी,
उछर रहा है वह सदा कौन-सी उमंग में।

श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

आपका जन्म जमानिया, जिला गाजीपुर में हुआ। जन्मतिथि —भाद्रपद कृष्ण २, संवत् १९५० है। आप बी० ए० एल-एल बी० हैं और आजमगढ म्युनिस्पल बोर्ड में एक्जीक्यूटिव आफिसर रह चुके हैं। 'सरस-सुमन', 'कुसुम-कुंज', 'वंशीध्वनि' तथा 'नूरजहाँ' आपके काव्य हैं।

'नूरजहाँ' ने आपकी कीर्ति-कौमुदी को अधिक विकसित किया है। देव-पुरस्कार की प्रतियोगिता में द्वितीय स्थान मिलने के उपलक्ष्य में इस काव्य पर आपको एक प्रमाण-पत्र मिला था। मानव-हृदय के अन्तर्द्वंद्व पिपासानुकूल जीवन की कसक और प्रेम की चिर-जाग्रत चिनगारियों का चित्रांकन 'भक्त' जी के इस काव्य में सुन्दर ढंग से हुआ है।

गुरुभक्त सिह जी की स्फुट रचनाओं में प्रकृति के सौंदर्य की मनोहर झाँकी मिलती है। वे प्रकृति के कवि है। पंडित श्रीधर पाठक ने पार्वत्य प्रदेश छवि का चित्रण किया है। कविवर पन्तजी प्रकृति की रंगस्थली के तथा गुरुभक्तसिंह जी प्रकृति के नखशिख के चित्रकार है। वास्तव में, इस क्षेत्र में, उन्हें अच्छी सफलता मिली है। आपसे हिन्दी को बड़ी आशाएँ हैं।

बंग देश का सौन्दर्य

ऊषा की कोमल किरणें पहले जिसको नहलाती है।
जिसके पग पर अगणित नदियाँ आकर सलिल चढ़ाती है।।
जिसका चरणोदक-पयोधि से सूर्यकरों द्वारा वह जल——
बरसा करके सारे जग पर पावन करता विश्व सकल।।
जहाँ रसा के सुन्दर तन पर लहराती धानी सारी।
जहाँ मलय के झोके में आती सुगन्ध प्यारी-प्यारी।।
शैलों पर 'सालों' की शोभा नीचे शाली की क्यारी।
लता-पाश-आबद्ध दूर तक तरुओं की अवली प्यारी।।
विरही के दृग से पर्वत के चश्में करते है छल-छल।
कल्लोलिनी विकल मानस को कहती हाथ उठा कल-कल।।

× × ×

जहाँ विहरती है नितम्बिनी केश-केतु की फहराती।
पानराग-रंजित होठों से मन्द मन्द-सी मुस्काती।।
अथवा जहाँ रसिक बंगाली कोमल स्वर में गाता है।
मंत्र-मुग्ध हो निज प्रेयसि को अपना बीन सुनाता है।।

× × ×

जहाँ वनों में वृक्ष डाल पर झूला करता मलयानिल।
आँख मिचौनी धूप छाँह ही खेल रहे नीचे हिलमिल।।
जिसकी झिलमिल में चीते का चीतल तन छिप जाता है।
इस प्रकार तम के संगम में मृग भी धोखा खाता है।।

जिसके अंगों पर बहती हैं गंगा-जमुनी धाराएँ।
जिसके कटि की देख क्षीणता लज्जित होती दाराएँ॥
नंद-मंद गति सरि के तट पर जल पीने वह जाता जब।
जिधर आँख फिर जाती उसकी जंगम जड़ हो जाता तब॥
रंग-रंग के तोता मैना जहाँ विहरते दल के दल।
चातक और चकोर, कोकिला, मोर, धनेश, लवा, दहियल॥

सरि के तट पर चाहा बगुला, कछुआ, सारस, आँजन, फेंक।
वर्तें, लालसर, टीका, चकवा, विहर रहे हैं विहग अनेक॥
जहाँ ब्रह्मपुत्रा मानस से निकली हुई बढ़ा आती।
शंकर-जटा-जाल से गंगा निकली हुई चढ़ी आती॥

जहाँ गले मिल-मिलकर फिर दोनों सरिताएँ हुई निहाल।
बिछ है गया उमग कर भूपर अगणित स्नेह स्रोत का जाल॥
रज लाई है मिला मिलाकर जीवन में व्रज मण्डल से।
कृष्णचन्द्र की केलि-भूमि से राधावर के पगतल से॥
रामचन्द्र की अवधपुरी से, ऋषि-मुनियों के आश्रम से।
वीरों की बलिदान भूमि से, ब्रह्म-ज्ञान कै उद्गम से॥
रज, जिसमें अगणित विभूतियाँ मिली हुई हैं सतियों की।
रज, जिसमें समाधियाँ सोईं कितने योगी यतियों की॥

रज, वह जिसमें रक्त मिला है अमर शहीदों, वीरों का।
जो स्वदेश-हित हुए निछावर अटलव्रती रणधीरों का॥
रज, जिसको था किलक-किलक कर खाया कुँवर कन्हैया ने।
जिसे निकाला मुख से, मोदक खिला यशोदा मैया ने।

यह पावन-रज त्रिभुज अंग में सिंधु निकट वे भर लेतीं।
उठ-उठ कितना जलधि, माँगता; किन्तु नहीं उसको देतीं॥
प्रकृति-नटी का रंगमंच वह रम्य देश प्यारा बंगाल।
वहाँ पहुँचकर नव-दम्पति वह, छटा निरख हो गया निहाल॥

नूरजहाँ

अर्धनिशा में महानिविड़ तम घेरे था पृथ्वी तल,
अन्धकार-ही-अन्धकार दिखलाई देता केवल।
अपर लोकवासी के लख पड़ते थे जो दृग तारे;
वे भी मेघों की पलकों में छिपे नींद के मारे।

वारिद तारों पर पावस ने बिजली को दौड़ाया।
हर्षनाद कर मित्रों का आगम जिसने बतलाया।
सूख गये थे जड़-जंगम जो विरहानल खा-खाकर,
पुनः हरा कर दिया उन्हें जीवन संदेश सुनाकर।

हरियाली उट्ठी ऊपर को मिलने वारिदमाला,
पुलकित होकर उतर मेघ ने वारि-करों को डाला।
नवलतिकाएँ थिरक-थिरक कर घूँघरू लगी बजाने,
घन दामिनि-संग ताल बजाकर लगा नाच दिखलाने।

मोती झड़ते देख श्याम अलकों से, वारिद-पट से,
कलियाँ झाँक-झाँक मुस्काती पतों के घूँघट से।
रोमांचित भू ने पुलकित हो अगणित पुष्प चढ़ाए,
मेघ धूप ले अपने ऊपर भू को रहे बचाए।

छिपा 'पतंग' देख पृथ्वी ने कोटि 'पतंग' उड़ाए,
निशि में जुगनू के तारों को तम-नभ पर बिखराए।
घन पृथ्वी को छू-छू लेता, पर्वत से टकराता,
मोर नाचता, नदी बहाता, शोर मचाता आता।

कहता रहता, जले न कोई सब हों शीतल छाती,
दामिनि, मुझसे, लतिका तरु से रहे सदा लिपटाती।
पर पतंगिनी नहीं मानती, स्नेह चिता जब जागी,
जीवन-दीप दिया कर ठंढा, सह न सकी बिरहागी।

पंख लगाकर अगम पंथ में मानों नव अभिलाषा,
वन जीवन के सुख-सोहाग के मन में किए पिपासा।
उड़ी अभी दो चार हाथ थी प्रेम-ज्योति देखी जो,
कई बार मोहित-सी होकर तन मन की सुधबुध खो।
हँसते-हँसते स्नेहानल में हुई नेह एक मिल-मिलकर,
बिखरे पड़े अभी तक उसके हैं आशाओं के पर।

पवन उन्हीं से खेल रहा था ले जा नीचे-ऊपर,
भस्म आँख में डाल रहा था पड़ी रही जो भू पर।
देख रहे थे नयन किसी के निशि-भर थे जो जागे,
कैसे हँस-हँसकर जलते हैं हृदय प्रेम-अनुरागे।

दृग मृग चचल रहे चौकड़ी भरते नभ से भू तक,
निद्रा हरियाली दिखला कर हारी, सकी न छू तक।
फँसे न पलकों के फन्दे में, जो रजनी ने डाले,
मन से होड़ लगाकर उडते रहे नयन मतवाले।

हत्याकाण्ड, प्राण की आहुति कठिन प्रेम की लीला,
सका न अधिक देख रमणी का कोमल हृदय रसीला।
किसी सोच में हो विभोर श्वासें कुछ ठंडी खींची,
फिर झट गुल कर दिया दिया को आँखें दोनों मींची।

ले निःश्वास पुनः खोली जो देखा सम्मुख कोई,
लगी सोचने मैं जगती हूँ सचमुच या हूँ सोई।
फिर आँखें मल लगी देखने देखी मूरत काली;
तुरत झपटकर पहुँची उस पर झट तलवार निकाली।

बढ़ती हुई तड़प कर बोली—"ठहर! कौन! क्यों आया?
कर दूँगी तलवार पार मैं पग जो एक बढ़ाया?"
खोल नकाब कहा—"सलीम हूँ मेहर! मुझे मत रोको,
'शेर' मारकर बनें अकंटक! करो मदद, मत टोको।

बोलो नही, बताओ चुपके कहाँ दुष्ट है सोया?
बस, उसका है अन्त आज ही, काटेगा जो बोया,
कल बंगाल कौन जाता है, भेजूँ उसे जहन्नुम,
और साथ ही साथ तुरत ही चुपके चली चलो तुम।"
"कौन? कौन? क्या तू सलीम है? क्या सलीम शहजादा।
पर-घर जाकर तस्कर बनकर, ऐसा नीच इरादा।
मेरा तो विश्वास और था धोखा मैंने खाया,
जाओ, अभी निकल जाओ तुम, पग जो एक बढ़ाया।

देती हूँ आवाज अभी मैं चोर पकड़ जाता है,
हत्यारे का हाथ अभी ही अभी पकड़ जाता है।
परनारी के घर में घुसना पति का खून बहाने,
फिर भी अपने को सलीम कह आया मुँह दिखलाने।

रुको नही, उलटे पावों तुम फौरन पीछे जाओ,
होकर कौन चले क्या करने, जरा शर्म तो खाओ।"
"मेहर! मेहर! तुम क्या कहती हो, मैं हो गया पराया?
मेरी भावी सम्राज्ञी ने किसको है अपनाया?

जो मेरी आँखों में रहती, वही आँख दिखलावे,
जो कल संग हवा खाती थी आज हवा बतलावे।
अपना हो साम्राज्य उसी में घुसने तलक न पाऊँ,
मेरी वस्तु और ले जावे, मैं तकता रह जाऊँ?

मैं ही खुद यों लूटा जाऊँ, मुझको कहो लुटेरा,
मुझको ही तुम चोर बनाओ हृदय चुराकर मेरा।
पर, 'अफगन' दिखला दो पहले, उसे खत्म तो कर लूँ,
उसके बाद कहोगी जो कुछ, कहने को हाजिर हूँ।"
"बालापन से पूछो जाके उच्छृंखलता सारी,
सुमन-विकास, मधुर अलि-गुंजन, मुक्ताओं की क्यारी—

ऊषा निज अंचल में भरकर चलती हुई विचारी,
जब से उस विवाह-दिनकर की निकली इधर सवारी।"
"आज सलीम! बात करते हो जिससे, पर नारी है,
जो अपने कर्तव्य-धर्म पर तन-मन-धन हारी है।
इससे उचित नहीं है तुमको, सोचो, अधिक ठहरना,
और किसी की पत्नी से यों बहकी बातें करना।

नही यहाँ साम्राज्य तुम्हारा, मेरा पावन घर है,
इसकी दीवारों के भीतर दम्पति-धर्म अमर है।
नहीं तुम्हारा राज्य चाहती, अपने घर की रानी,
ऐसे नही गिराना होता कभी आँख का पानी।
मूर्ख बनो मत, सोचो समझो, धर्म-नीति मत छोड़ो,
महापतन की ओर न जाओ, पापों से मुख मोड़ो।

है वह कौन मेरे जीते-जी उन पर हाथ लगावे?
कभी न होगा, लाखों ही का सर चाहे गिर जावे।
दोनों में से एक यहाँ पर पहले सो जावेगा,
तब फिर बाल एक भी बाँका उनका हो पावेगा।
एक बार मैं फिर कहती हूँ चुपके से चल दीजे?
बहुत हो चुका है इतना ही, अधिक देर मत कीजे।

राह लीजिए, घर की अपने, जाने मत यह कोई,
क्षण भर जो तुम और रुके, तो अपनी इज्जत खोई।
विनय मानते हो चुपके से, या आवाज लगाऊँ?
या हो रक्त देखना ही, तो अपने हाथ दिखाऊँ?"
'ओ पाषाणहृदय! बस बस, अब जाता हूँ, मैं जाता,
क्या सचमुच तू वही मेहर है, समझ नही कुछ आता।

कल जो प्यार मुझे करता था, आज वही दुत्कारे,
आज तलक के कोमल नाते रौंदे क्षण में सारे!

स्वप्न देखता था क्या-क्या मैं, तूने मुझे जगाया,
क्या सम्राट विश्व का होना, जो न तुम्हें अपनाया?

लाख बधाई! धन्य धन्य है! तू जीती मैं हारा,
तेरे इस पाषाण-कोट में मेरा कहाँ गुजारा।

अंतिम बिदा! चूक सब मेरी करना क्षमा दया कर,
रमणी क्या रहस्य है भगवन्! सोचूंगा घर जाकर।"

शीश झुकाकर दृष्टि डालता छिछली-सी, रमणी पर,
बड़े वेग से लौट चल दिया फिर नकाब में छिपकर।

मेहर जमी रह गई वहीं पर, हिली न बोली चाली,
मौन मूर्ति बन गई लिये कर में करवाल निराली,

ज्यों ही हुआ सलीम निकल कर अंधकार से बाहर,
छूट गई तलवार हाथ से गिरी अचेत धरा पर।

पंडित जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

जन्म : मार्ग शीर्ष शुक्ल १०, संवत् १९५४; निवास-स्थान : जिला उन्नाव

राजनैतिक जीवन मे 'हितैषी' जी ने बड़े कष्ट सहे थे। चार-चार बार वे कारागार-प्रवास कर चुके थे। प्रकृति के बड़े विनोदी और हँसोड़े थे। स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के हँसोड़पन का उनके दैनिक जीवन पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा था।

शृंगार, करुण और हास्य रस में आप अधिकार-पूर्वक कविता लिखते थे। आपकी कविताओं का एक संकलन 'कल्लोलिनी' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

खड़ी बोली में सफलतापूर्वक सवैया तथा घनाक्षरी छंद लिखने वाले हमारे यहाँ बहुत कम हैं। 'हितैषी' जी इन्ही इने-गिने कवियों में थे। आपकी भाषा बड़ी प्रबल होती थी। आपकी व्यंजना से कही-कही नवीन धारा का प्रवाह भी झलकता है। दस-बारह वर्षो के सतत अध्ययन के बाद उमर खैयाम की रुबाइयों को हिन्दी में रूपान्तरित करने में आपने बड़ी सफलता पाई है।

स्व० 'हितैषी' उदयकालीन धारा के एक सफल कवि रहे है।

दीपक की आत्मकथा

जिसने किया स्नेह से रक्षित था कुल गेह का दीप बना करके।
प्रति बार 'हितैषी' सजाता रहा—नवयौवना ज्योति जगा करके॥
जलता रहा देख उसे ही सदा, निज प्रेमियों को भी जला करके।
अब डाह की वृत्ति कहाँ गई वो, मुझे मृत्तिका में यों मिला करके॥

नव रूप की ज्योति में था मुझ पै जल प्रेम पतंग कभी सरा है।
सुर-सुन्दरियों ने सँवरा कभी निज नेह के द्वारा मुझे भरा है॥
बन मिट्टी मिला जब मिट्टी में मैं, नहीं पूछता बात कोई जरा है।
अपना अब दूसरा कौन है? हाँ, नभ ऊपर नीचे वसुन्धरा है॥

वारि तथा नभ-वायु का अग्नि का युक्ति के साथ संयोग मिलाकर।
स्वीय करों से अरूप को रूप, दिया कुछ धूलि-कणों को सजाकर॥
नेह भरा उसने स-सनेह, तमोमय गेह का दीप बनाकर।
हाय! किया निरवापित क्यों फिर यों नवजीवन ज्योति जगाकर।

ज्वाला में जी जलता है कभी तो सदेह मुझे दहना पड़ता है।
आप ही स्नेह से सिक्त कभी करता है, नहीं करना पड़ता है॥
इंगित से उसके ही स्वप्राण-वियोग कभी सहना पड़ता है।
जैसे भी है रखता वह मालिक वैसे मुझे रहना पड़ता है॥

पथदर्शक मैं उसका ही बना, मुझको जो संभालने वाला हुआ।
जिसने भी 'हितैषी' जलाया मुझे, उसका उर-दाहक हुआ।।
नर वापिस जो करने को बढ़ा, तो वह मुख धूम्र से काला हुआ।
जिसने भी सनेह से पाला मुझे, उसके घर का मैं उजाला हुआ।।
स्वयमेव प्रकाशक होके न जाना कि, आना हुआ किमि मेरा यहाँ।
कब जाना पड़ेगा ? 'हितैषी' कहाँ ? कितने क्षण का है बसेरा यहाँ।।
किये ज्योति असीम को सीमित बद्ध है, मृत्तिका का यह घेरा यहाँ।
पथ तेरा दिखा सकूँ क्या भला मैं, निज पाँव तले है अँधेरा यहाँ ?

सुमन

जीवन को धूल में मिलाना न 'हितैषी' कहीं,
मत मोहियों के मोहवश हो न डरना।
खोना निज सौरभ न पड़ के किसी के गले,
दमबाज दम्भियों का भी न दम भरना।
विरह में तन को सुखाना मन दे के नहीं,
पानी-पानी होके घुल-घुल के न मरना।
सुमन, सु-मनहारी भूले हो तो भूल से भी,
प्रणय भ्रमित भ्रमरों से मत करना।
मिलने को बाग की बहार वह अब कहाँ,
मधुर-मधुर मधुओं का वह गाना हाय।
अठखेलियाँ भी करने को लोनी लतिकाएँ,
अब कहाँ झूम के हवा के झोंके खाना हाय।
कोमल बदन कुम्हला के क्यों न सूखे 'हित',
देश छोड़ दुःखों को विदेश पड़ा आना हाय।
हो यों प्रतिकूल जाय देव जिसके हे फूल,
भूल जाय क्योंकर न मन्द मुस्काना हाय।।

श्री अनूप शर्मा 'अनूप'

जन्म—भाद्र-कृष्ण ३०, संवत् १९५६ विक्रमी; जन्मस्थान—नवी-नगर, जिला सीतापुर। आपने बी० ए०, एल० टी० किया है और हाई-स्कूलों में हेडमास्टर रहे हैं। आल इंडिया रेडियो में भी कार्य कर चुके है।

'अनूप' जी उदयकालीन धारा के एक वीर कवि हैं। कवि-जीवन के प्रारम्भ में ही आप कविवर पण्डित गयाप्रसाद जी शुक्ल 'सनेही' के प्रोत्साहन से कवि-सम्मेलन में वीररस के कविता-पाठ के लिए प्रसिद्ध हो गये थे, यहाँतक कि आगे चलकर लोग आपको 'वर्तमान-भूषण' भी कहने लगे; पर उस समय सच पूछिए तो, 'अनूप' जी केवल कवि सम्मेलन के कवि थे। उनकी कविता का विकास तो तब हुआ, जब वे जीवन से स्थिर हो पाये।

'अनूप' जी ने 'सिद्धार्थ' नामक एक महाकाव्य लिखा है। मंगला-प्रसाद पारितोषिक के कई निर्णायकों ने यद्यपि उसे द्वितीय श्रेणी में स्थान दिया है, तथापि 'अनूप' कवि की सफलता इससे स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। आपकी कविता में बड़ा ओज है। हृदय को स्पर्श करने वाली शक्ति उसमें विद्यमान है। वास्तव मे 'अनूप' वीररस के एक कुशल कवि है।

देव-देव

शशि बन प्रकट हुए हो मित्रता की देव !
        एकता व्यवस्थित हुई है दोनो तन में।
सारी रजनी भर सुषुप्ति से समादृत हो,
        आ गई अभिन्नता तुम्हारे मन में।
गूँज हठे भ्रमर विकास कमलो का हुआ
        लुब्ध चकवे हैं चकवी के सम्मिलन में।
पा के धरा, व्योम के प्रभात का रहस्य आज,
        प्रकट हुआ दो हृदयों के उपवन में।

आप गगनस्थित हैं, मैं हूँ धरणी पर ही,
तेजोमय आप मैं तमिस्त्र का ही जाया हूँ।
आपका प्रसन्न वदनारविंद, दीप्त, किन्तु;
मैं तो पूर्वकाल की नितांत ध्वान्त छाया हूँ।
तो भी यह मधुर, रहस्यपूर्ण संगम है,
मत समझो कि यों ही स्वाँग भर लाया हूँ।
उन्थित युवापन की उन्नत तरंग द्वार,
मैं तो बस आप के करों से खिंच आया हूँ।

ओजोमयी राशि भवदीय गरिमा की देव,
संसृति-विजयिनी विभूति दिखलानी है।
मंजुल मयूखों की प्रशस्ति का प्रचार देख,
सुयश वृता-सी विदिशा भी दृष्टि आती है
जीवन समीर की हिलोर मुझे शीघ्रता से,
आपके सकाश में साहस खींच लाती है।
बरस रहा है वारिवाह-सा प्रकाश पुंज,
सार-हीन भिन्नता की भीत ढही जाती है।

एकाकार होते एक पाता हूँ प्रकाश ऐसा,
बीत-भावना के भूत-प्रेत भाग जाते हैं।
सारा भून-काल एक क्षण में विलीन होता,
भावुक भविष्य के सुदृश्य दिखलाते हैं।
जाग्रति का परिधि-प्रसार इस भाँति होता,
मेरी चेतना में वह दिव्य दृश्य आते हैं।
जीवन स्वतन्त्रता के चारु अंग-अंग मुझे,
गंगा-गत सूचिका समान दृष्टि 'आते हैं।

होता हूँ स्वतन्त्र ऐसे जीवन चरित्र से मैं,
शासन विहीन और अति दुखदायी जो।

जिसमें न डाँड़ पतवार को विधान ऐसा,
देता हो अनिश्चित दिशा को विदाई जो।
ऐसी तरणी से मुक्त पाता अपने को आज,
अब लौं यथा तथा है डगमग आई जो।
जिसको हवा ने जहाँ चाहा वहीं मोड़ दिया,
देती थीं भँवर के समीप ही दिखलाई जो।।
मुक्त हुआ आज ऐसे सृष्टि के विधान से जो,
मुझको बनाये कठपुतली समान था।
तन्त्र में अजस्र ही फँसा मैं घूमता था ऐसे,
जिससे स्वतन्त्रता का होता अपमान था।
शेष सूत्रधार का धरा था जिसने कि वही,
मानों महा उच्च विश्व-विभव-वितान था।
ऐसी जगती मे रहने का, रखने का मुझे,
मुझको गुमान आपको न अनुमान था।।

बधिक के प्रति

विचर चुका हूँ मन्द-मन्द मृगियों के संग,
दीन-दुनिया की सुध-बुध को बिसारकर।
निकल गया हूँ कई बार द्रुत धावन में,
सिंह की छलाँग से छलाँग दूनी मारकर।
जो है नत सामने तुम्हारे उस सीस पर,
रख भी लिया मद विज्जु का उतारकर।
आया पाव प्रेरित 'अनूप' करुणा से अब,
श्रमित हताश तुम्हें भ्रमित निहारकर।
विनय हमारी यदि ध्यान दे सुनी तो फिर,
आपका भला हो, यम की इच्छा फल जाय।

आपकी व्यथा से जो व्यथा है मन मानस में,
वह भी किसी-न-किसी भाँति ही से टल जाय।
इतनी भलाई तो अवश्य करो मेरे संग,
जीवन-प्रदीप स्नेह-हीन हो न जल जाय।
जीते जी स्वतंत्रता न छीनो हे बधिक! बस,
एक तीर मार दो, कलेजे से निकल जाय।

सुमन

कुसुमित होते फूलते ही मुरझाते तुम,
सुमन कभी तो एक दो दिन जिया करो।
आते मधु पीने को अनेक चंचरीक उन्हें,
गत मधु होकर निराश न किया करो।
होकर प्रचालित प्रभात के पवन द्वारा,
झूम-झूम होके मन्द-मन्द ही लिया करो।
देख निज जीवन-रहस्य अपने में छिपा,
हँस पड़ते हो कभी बोल भी दिया करो।

बालक

दीन विश्व-वारिधि को पार करने की सीख,
कागज की नाव बालुका में अभी खेने दो।
ज्ञान-रवि जीवन-प्रभात में उगा है नहीं,
शिशुता उषा के चरणारविन्द सेने दो।
आँख के अखाड़े में कनीनिका की कोर तक,
खेल-खेल अभिभावकों को सुख लेने दो।
फिर न मिलेगा कभी खेलना न छेड़ो इन्हें,
बालक अभी हैं कुछ और खेल लेने दो।

श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

जन्म—पौष शुक्ल ७, संवत् १९५५ विक्रमी।

मृत्यु—सं० २०१६ वि० : जन्मभूमि—कोदईपुर, जिला—जौनपुर।

आपने मरण पर्यन्त अपना जीवन प्रयाग में व्यतीत किया। गिरीश जी ग्रेजुएट थे और स्वतंत्र रूप से साहित्यिक जीवन व्यतीत करते रहे। 'मनोरमा' 'बालसखा', तथा 'अरुणोदय' आदि कई मासिक-पत्रों का सम्पादन भी उन्होंने किया। 'रसाल वन' तथा 'स्मृति' काव्यो के अनन्तर कई वर्षों की साधना से आपने 'तारक-वध' नामक एक इतना बड़ा महाकाव्य लिखा, जो लगभग साढ़े तीन हजार छंदों में समाप्त हुआ है।

'गिरीश' जी कथाकार भी उच्च कोटि के थे। आपके लिखे 'संदेह', 'बाबू साहब', 'प्रेम की पीड़ा', 'पाप की पहेली', 'बहता पानी', 'नादिरा', 'पंडा' आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'गुड़ियों का डब्बा' आपकी छोटी कहानियों का संकलन है।

कवि तथा उपन्यासकार के अतिरिक्त 'गिरीश' जी एक योग्यतम समीक्षाकार भी थे। आपके 'महाकवि हरिऔध' तथा 'गुप्त जी की काव्य-धारा' नामक समालोचना-ग्रन्थो ने हिन्दी-साहित्य में अपना एक स्थान बना लिया।

'गिरीश' जी का जीवन एक साधना-रत साहित्यकार का जीवन रहा है। आज के युग की प्रदर्शन-वृत्ति से सर्वथा दूर रहते थे। जीवन को विविध परिस्थितियों के साथ आध्यात्मिकता का सामंजस्य स्थापित करके उसमें सौन्दर्य के अनुसंधान की प्रवृत्ति आपकी कविता में पायी जाती है।

वियोगिनी

मिट्टी के ढाँचे को उसने उस दिन मिट्टी जाना।
मिट्टी का भी मोल न उसका जिस दिन प्रिये न माना।
रूप-राशि धन धनिक बतावे उसको यह जग सारा।
प्रियतम ने तो सूना पाया तब तो किया किनारा।

भौंरे मँडराकर कहते थे—तुम हो सरल नवेली।
चारु चमेली से भी बढ़कर बेला से अलबेली।
वह कहती थी—बड़े रसिक तुम, यों न मुझे बहलाओ।
मुझे देखना हो तो मेरे प्रिय की आँखें लाओ।

वही मुझे अनमोल कहें तो अनमोल बनूँगी।
वही तोल देंगे जब मुझको, अपना तोल लहूँगी।
मिट्टी समझा आज उन्होंने कैसा सोना हूँगी।
भौंरे मेरे प्रिय को ला दे तब सच्चा जानूँगी।

भौंरे की झकझोरी का रस पी कलियाँ रस-बोरी।
कहती थीं प्रियतम से होना कैसी हो तुम गोरी।
गोरापन यह तज ओला-सा वे किसान से भागे।
कहीं नये रस की खेती के करने में अनुरागे।

पानी जिस पर हो सोने का वह सौन्दर्य न भाया।
उतरा खरा कसौटी पर चढ़ उसने ही ललचाया।
होता जो सौन्दर्य खरा यह, क्यों वे यहाँ न आते।
क्यों मेरी प्यासी आँखों को वे सपना हो जाते।

उसके काले बाल देखकर मेघ सिहर पड़ते थे।
पैरों पड़ते थे, ऊँचे से नीचे गिर पड़ते थे।
जायँ भाड़ में कहती थी वह, काम कहाँ ये आए।
इसका बल तो देखा प्रिय के उर को बाँध न पाए।

नटखट हवा अलक को लेकर लटें खेल करती थीं।
सूनापन तिल का हरने को उनके ढिंग धरती थीं।
सिर से साड़ी को सरका कर हैरानी देती थी।
हैरानी ही में छबि न्यारी दीवानी देती थी।

होता रस जो इन बातों में क्यों न इन्हीं में रमते।
खाक छानते फिरते वे फिर क्यों धरती से भ्रमते।

कहती थी वह ऊब हवा से—मुझे न छेड़ो रानी।
वह छबि दो मुझको जिससे प्रिय प्रीति करे मनमानी।
फूले कमलों को कुम्हलाते अपलक देखा करती।
चन्द्रमुखी उनकी पीड़ा का हेतु न लेखा करती।
कैसे मानूँ मेरे मुख में होगी कुछ सुघराई।
जब मुझसे मुख फेर कान्त ने मेरी सुरति भुलाई।

चन्द्रकिरण हँस-हँस कहती थी—सुघरचन्द्र से भी तुम।
उत्तर पाती थी—सुघराई लो सारी मेरी तुम।
नहीं सुघरता प्रिय यह प्रिय को, इसका मुँह कर काला।
चले गये वे कहीं खोजने नव लावण्य निराला।
प्रिय उन्माद ले गये मेरा सब उल्लास ले गये।
मेरी क्रीड़ा, मेरा गाना मेरा हास ले गये।

मेरा गौरव मेरा वैभव अहंकार सब छीना।
चले गये वे मेरे स्वामी मुझको करके दीना।
तारे दिये रात आँखों में काटूँ उनको गिन-गिन।
चिन्ता की दी चिता उन्होंने जलूँ उसी में निशिदिन।

रानी को रंकिनी बनाकर, चले गये प्रिय मेरे।
एक कली से मेरे मन को भले गये प्रिय मेरे।
होगी कोई बात तभी तो प्रिय ने दी ये आहें।
होगा कोई भेद हिये में जो ये मिली कराहें।

प्रिय का कौशल होगा कोई मुझको हीन बनाया।
तड़पा रस में भीनेगा ही निर्मल मौन बनाया।
एक बात तो समझ रही हूँ तौल गया बढ़ मेरा।
प्रिय-वियोग में प्रतिपल मिटकर मोल गया चढ़ मेरा।

निज देहाभिमान में डूबी मैं थी खिंची सभी से।
अब देहाभिमान से ऊबी मैं हूँ मिली सभी से।
तब मैं दिवस सरिस हँसती थी अब रजनी-सी रोती।
तब जग को तापित करती थी अब तारकमय होती।

पावक के अंगार मनोहर रजत-खंड बन आए।
कौन कहेगा प्रिय से मैंने बढ़कर दाम न पाए।
तब मैं हँसती थी बिजली सी अब सब वारिद-सी रोती।
तब मैं खोती थी औरों को अब अपने को खोती।

वे प्यारे अनार के दाने मोती होकर आए।
कौन कहेगा प्रिय से बढ़कर मैंने दाम न पाए।
तब मैं संध्या-सी ऐंठी थी! अब ऊषा सी रोती।
तब माथे में शशि-बेंदी थी! अब सब गहने खोती।

तब प्रिय थे आँखों के आगे अब उठ भीतर आये।
कौन कहेगा प्रिय से बढकर मैंने दाम न पाए।
इन्हीं भावनाओं में डूबी वह वियोगिनी नारी।
रोती थी धीरज धरती थी, दोनों बारी-बारी।

कभी अभागी समझ स्वयं को माथा ठोंका करती।
ज्यों-ज्यों फिर जी को समझा कर दृग-जल रोका करती।

('तारक-वध') से

समाधान

दीन बन्धु दीनता के नाते ही हमारे बन्धु
मूढ़ता करूँ क्यों निज दीनता मिटाऊँ क्यों?
दीनों पर करुणा अपार है तुम्हारी सदा
इस अनमोल सम्पदा को ठुकराऊँ क्यों?
आहें भरने में तुम जैसे जो सनेही मिले,
प्रखर विपत्ति-चोटें प्रेम से न खाऊँ क्यों?
प्यास जो कलेजे की बुझी तुम्हीं से दीनानाथ,
लोचनों के वारि से तुम्हें न नहलाऊँ क्यों?

उत्थानकालीन धारा

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी

जन्म—चैत्र शुक्ल ११, संवत् १९४५ वि०।

मृत्यु—संवत् २०२४ सन् १९६८; निवासस्थान–खंडवा, मध्यप्रदेश।

गाँव के मदरसे में शिक्षा समाप्त कर आपने नार्मल पास किया और अध्यापक हो गये। तदनन्तर आपने अँग्रेजी का स्वतन्त्र रूप से अच्छा ज्ञान प्राप्त कर पत्रकार का जीवन स्वीकार किया। सबसे पहले खण्डवा से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' के आप सम्पादक बने। पश्चात् आप वर्षों 'कर्मवीर' के सम्पादक रहे। आपका लिखा 'कृष्णार्जुन युद्ध' एक सुन्दर नाटक है। आप एक सच्चे भारत भक्त, भावुक और प्रखर प्रतिभाशाली कवि हैं। आपने 'साहित्य-देवता' नामक एक सुन्दर गद्य-काव्य भी लिखा है।

चतुर्वेदी जी नवीन धारा के प्रथम कवि हैं, जिन पर द्विवेदी-काल का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं झलकता। उनकी अभिव्यंजना उदयकालीन धारा के कवियों से सर्वथा पृथक् है। कविता में मन की सुकुमार वृत्तियों का संकेत-दान आपकी शैली है। अपनी शैली में आप सोलह आने मौलिक हैं।

चतुर्वेदी जी राष्ट्रवाणी के कवि हैं। उनकी अमर कृतियाँ उनके कारागार-प्रवास में भी निर्मित हुई हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में राष्ट्र की वेदना का सजीव चित्र मिलता है। 'एक भारतीय आत्मा' आपका राष्ट्र-कविजनोचित नाम पूर्ण रूप से सफल हुआ है। ऐसी भावपूर्ण मार्मिक राष्ट्रीय कविताएँ बहुत कम कवियों ने रची हैं।

कविता की भाँति गद्य-लेखन में भी आप एक शैलीकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। लेखक के सिवा आप एक सुवक्ता भी हैं। आपके गद्य-लेखन में भाषा और भावों की जैसी छटा मिलती है, भाषण में भी वह पूर्णरूप में सुरक्षित रहती है। इस प्रकार संपूर्ण अर्थों में आप एक सफल साहित्यकार हैं। आपकी अनेक कविताओं ने हिन्दी-काव्य की गौरववृद्धि की है।

नव-स्वागत

तुम बढ़ते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले!
काठ छेदने लगे, सहसदल की नव पंखुड़ियाँ भूले।
मन्द पवन सन्देश दे रहा, हृदयकली पथ हेर रही,
उड़ो, मधुप! नन्दन की दिशि में ज्वालाएँ घर घेर रही,
तरुण तपस्वी! गा तेरा कुटिया में नव स्वागत होगा।
दोषी! तेरे चरणों में, फिर मेरा मस्तक नत होगा।

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर, हे हरि! डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले।
भला किया, सींचो पनपाओ, लगा चुके हो जो कल में,
भला किया, दुनिया पलटा दी प्रबल उमंगों के बल में।

लो हम तो चल दिये नये पौधों—प्यारो ! आराम करो।
दो दिन की दुनिया में आए, हिलो-मिलो कुछ काम करो।
पथरीले ऊँचे टीले हैं गोज नहीं सीचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं, जो थे बागीचे आते।

झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर, बनचर भी खा जाते हैं,
शाखा-मृग कन्धों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीन-बन्धु की कृपा बन्धु जीवित है, हाँ हरियाले हैं।
भूले-भटके कभी गुजरना, हम वे ही फल पाले हैं।

कैदी और कोकिल

क्या गाती हो, क्यूँ रह रह जाती हो—कोकिल, बोलो तो ?
क्या लाती ? संदेशा किसका है—कोकिल बोलो तो ?

ऊँची काली दीवारों के घेरे में, डाकू चोरों बटमारों के डेरे में।
जीने को देते नहीं पेट-भर खाना, मरने तो देते नही—तड़प रह जाना।
जीवन पर अब दिन रात कड़ा पहरा है, शासन है या यम का प्रभाव गहरा है।

हिम कर निराश कर गया, रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूँ आली ?
क्यूँ हूक पड़ी ? वेदना-बोझ वाली सी-कोकिल बोलो तो ?
क्या लुटा ? मृदुल वैभव की रखवाली-सी कोकिल बोलो तो ?

बन्दी सोते हैं है घर्घर श्वासों का दिन, के दुख का रोना है, निश्वासों का,
अथवा स्वर है लोहे के दरवाजों का, बूटों का या सन्त्री का आवाजों का;
या करते गिनने वाले हाहाकार, सारी रातों—एक, दो, तीन, चार।
मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली, बॅसुरा-(मधुर) क्यों गाने आई आली ?

क्या हुई वाली, अर्द्धरात्रि को चीखो—कोकिल, बोलो तो ?
किस दावानल की ज्वालाएँ हैं दीखीं—कोकिल, बोलो तो ?

निज मधुराई को कारागृह पर छाने, जी के घावों पर तरलामृत बरसाने,
या वायु-बिटप-बल्लरी चीर हठ ठाने—दीवार चीरकर अपना स्वर अजमाने
या लेने आई मम आँखों का पानी, नभ के दीप बुझाने की है ठानी,
खा अन्धकार करते वे जग-रखवाली क्या उनकी आभा तुझे न भायी आली ?

तुम रवि किरणों से खेल जगत को रोज जगानेवाली—कोकिल, बोलो तो ?
क्यों अर्द्धरात्रि में विश्व जगाने आयी हो, मतवाली—कोकिल, बोलो तो ?

दूबों के आँसू धोती रवि किरणों पर, मोती बिखराती बिंध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर, ब्रह्मांड कॅपाते उस उद्दंड पान पर।
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा, मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा।

तब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या वो जाने—कोकिल, बोलो तो ?
क्यों तमोरात्रि पर विवश हुई लिखने मधुरीली तानें—कोकिल, बोलो तो ?

क्या देख न सकती जंजीरों का गहना हथकड़ियाँ क्यों यह ब्रिटिश राजका गहना
मिट्टी पर ? अँगुलियों ने लिखे गान ! कोल्हू की चरँख चूँ ? जीवन की तान
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ ! खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ
दिन में करुणा क्यों जगे, लानेवाली, इसलिए रात में गजब ढा रही आली।

इस शान्त समय में अन्धकार को भेद रो रही क्यों हो—कोकिल, बोलो तो
चुपचाप, मधुर, विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—कोकिल बोलो तो

काली तू रजनी भी काली, शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली, मेरी काल कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली, मेरी लौह शृंखरा काली,
पहरे की हुंकृति की व्याली, तिस पर है गाली ! ऐ आली !

इस कारे संकट सागर पर—मरने को मदमाती—कोकिल, बोलो तो ?
अपने चमकीले गीतों को किस विधि हो तैराती—कोकिल, बोलो तो ?

तुझे मिली हरियाली डाली, मुझे नसीब कोठरी काली;
तेरा नभ भर में संचार, मेरा दस फुट का संसार ?
तेरे गीतों उठती वाह, रोना भी है मुझे गुनाह ?
देख विषमता तेरी मेरी, बजा रही तिस पर रणभेरी !

इस हुंकृति पर, अपनी कृति से, और कहो क्या करदूँ ?—कोकिल, बोलो तो ?
मोहन के व्रत पर, प्राणों का आसव किसमें भर दूँ—कोकिल, बोलो तो ?
फिर कुहू-अरे क्या बन्द न होगा गाना ! यह अन्धकार में मधुराई दफनाना ?
नभ सीख चुका है कमजोरों का खाना, क्यों बना रहा अपने को उसका दाना ?
तिसपर करुणा गाहक बंदी सोते हैं स्वप्नों में स्मृतियाँ स्वासों से धोते हैं ?
सींकचे रूपिणी लोहे के पाशों में, क्या भर दोगी बोली निद्रित लाशों में ?
क्या घुस जावेगा रुदन तुम्हारा निःस्वासों के द्वारा—कोकिल, बोलो तो ?
और प्रात में हो जावेगा उलट-पुलट जग सारा—कोकिल, बोलो तो ?

सौदा

चाँदी सोने की आशा पर अन्तस्तल का सौदा,
हाँथ पाँव जकड़े जाने को, आमिषपूर्ण मसौदा !
टुकड़ों पर जीवन की श्वासें-कितनी सुन्दर दर है।
हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ—कहाँ बधिक का घर है !
दमयन्ती के 'एक चीर' की—माँग हुई बाजी पर।
देश-निकाला स्वर्ग बनेगा तेरा नाराजी पर !

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म——माघ शुक्ल १०, सं० १९४६ विक्रमी; निधन——सं० १९६४।

आपने क्वींस कालीजिएट स्कूल से बारह वर्ष की अवस्था में मिडल पास किया था। फिर पिता के स्वर्गवास के कारण घर, जमींदारी, दूकान और कारखाने का भार सँभालने को विवश होकर; आपने संस्कृत, अँगरेजी तथा उर्दू-फारसी आदि भाषाओं की योग्यता अध्यापकों को रखकर, घर पर ही प्राप्त की। आप एक प्रखर प्रतिभाशाली कवि, कहानी-लेखक और सफल नाटककार थे। आपके 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'नागयज्ञ' 'स्कन्दगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' नाटक 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आँधी', इन्द्र-जाल', 'गल्प-संग्रह; 'झरना', 'आँसू' तथा 'लहर' आदि कविता-संग्रह और 'कंकाल' तथा 'तितली' उपन्यास हैं। आपके 'कामायनी' नामक महाकाव्य पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आपके पुत्र को मगलाप्रसाद-पारितोषिक प्रदान किया है।

'प्रसाद' जी यद्यपि अपनी इहलीला समाप्त कर चुके हैं, तथापि साहित्य रूप में उन्होंने हिन्दी को जो आत्मदान दिया है, उसमें उनकी लीलाएँ हमारे लिए चिर-नवीन हैं।

कविता, कहानी, नाटक तथा उपन्यास आदि साहित्य के सभी क्षेत्र में 'प्रसाद' जी की अगाध गति थी। मनुष्य के जीवन में जो अतृप्ति है, निराश गति-विधियाँ और असफलताएँ हैं, 'प्रसाद' जी वेदना के रूप में उनके स्वप्नद्रष्टा हैं। उनकी समस्त कल्पनाएँ कवि के एक स्वप्न के रूप में ही हमारे सामने आती हैं। उनकी भावुकता हमें प्रायः अध्यात्म की ओर ले जाती है। उस लोक की ओर, जहाँ दुःख भी सुख होकर प्राणों के मिलन में गूँजता है और इस दृष्टि से 'प्रसाद' जी हमारे एक सर्वाधिक पुष्ट दार्शनिक कवि हैं।

स्मृति

कितनी निर्जन रजनी में तारों के दीप जलाये;
स्वर्गगा की धारा में, उज्ज्वल उपहार चढ़ाये,
शशिमुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये।

मैं अपलक इन नयनों से, निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता, कर देता दान सुकवि को!
घन में सुन्दर बिजली-सी, बिजली में चपल चमक सी,
आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक सी।

प्रतिभा में सजीवता सी, बस गई, सुछवि आँखों में,
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।
वह रूप-रूप था केवल, या हृदय रहा उसमें,
जड़ता की सब माया थी, चैतन्य समझ कर मुझ में।

विष प्याली जो पी ली थी, वह मदिरा बनी नयन में,
सौन्दर्य पलक प्याले का, अब प्रेम बना जीवन में।
छलना थी, फिर भी मेरा उसमें विश्वास बना था,
उस माया की छाया में, कुछ सच्चा स्वयं घना था।

कामना सिन्धु लहराता, छवि पूरनिमा थी छाई,
रत्नाकर बनी चमकती, मेरे शशि की परिछाई।

लहरों में प्यास भरी है, है भँवर पात्र से खाली,
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली।

सुख आहत, शान्त उमंगें, बेकार साँस ढोने में,
यह हृदय समाधि बना है, रोती करुणा कोने में।

अभिलाषाओं की करवट, फिर गुप्त व्यथा जगना,
सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना।

इस विकल वेदना को ले, किसने सुख को ललकारा,
वह एक अबोध अकिंचन, वेसुध चैतन्य हमारा!
उस पार कहां फिर जाऊँ, तम के मलीन अंचल में,
जीवन का लोभ न है वह, वेदना छद्म के छल में।

वेदना विकल फिर आई, मेरी चौदहों भुवन में,
सुख कहीं न दिया दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन में?
उच्छ्वास और आँसू में विश्राम थका सोता है,
रोई आँखों में निद्रा बनकर सपना होता है:

कामायनी का विरह

"जीवन में सुख अधिक या कि दुःख, मन्दाकिनि, कुछ बोलोगी।
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुद्बुद् हैं गिन दोगी?
प्रतिबिंबत है तारा तुममें, सिन्धु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिब एक के, इस रहस्य को खोलोगी?

इस आकाश पटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते हैं,
उनमें कितने रंग भरे, जो सुर-धनु-पट से छनते हैं,
किन्तु सफल अणु फल में घुलकर व्यापक नील-शून्यता सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बनते हैं।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहु में आज यहाँ।
कितना स्नेह जलाकर जलता, ऐसा है लघु दीप कहाँ।
बुझ न जाय यह साँझ किरण-सी दीप-शिखा इस कुटिया की
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ।

आज सुनूँ केवल चुप होकर कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है, चहल-पहल जो थी पहले!
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सन्ध्या।
कामायनि, तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सह ले!

विरल की डालियों के निकुंज सब वे दुःख के निःश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन-कथा फिर कौन कहे ?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोएँगे जो अश्रु पलक के पार बहे !
अरे मधुर हैं कष्ट-पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ।
जब निःसंबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ।
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं तब कैसे सुलझें उलझी सुख-दुख की लड़ियाँ।
विस्मृत ही वे बीती बातें अब जिनमें कुछ सार नहीं;
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं;
सब अतीत में लीन हो चलीं आशा, मधु अभिलाषाएँ;
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई पर यह तो मेरी हार नहीं।
वे आलिंगन एक पाश थे, स्मित चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा;
वंचित जीवन बना समर्पण, यह अभिमान अकिंचन का;
कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा।
विनिमय प्राणी का यह कितना भय-संकुल व्यापार अरे;
देना हो जितना दे-दे तू, लेना ! कोई यह न करे।
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती;
संध्या रवी देकर पाती है, इधर उधर उडुगन बिखरे।
वे कुछ दिन नो हँसते आए, अंतरिक्ष अरुणाचल से;
फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिए कुहुक बल से ?
फैल गई जब स्मित की माया, किरन-कली की क्रीड़ा से;
चिर प्रवास में चले गये वे आने को कहकर छल से !
जब शिरीष की मधुर गंध से मानभरी मधु-ऋतु-रातें;
रूठ चली जाती रक्तिम-मुख, न सह जागरण की घातें।

दिवस मधुर आलाप कथा-सा कहता छा जाता नभ में,
वे जगते सपने अपने फिर तारा बनकर मुसकाते !
बन-बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु मधु स्वर से;
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से;
किन्तु न आया वह परदेशी, युग छिप गया प्रतीक्षा में;
रजनी की भींगी पलकों से तुहिनबिंदु कण-कण बरसे।

मानस का स्मृति-शतदल खिलता, झरते बिन्दु मरंद घने,
मोती कठिन पारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने।
आँसू सरल तरल विद्युत्कण नयनालोक विरह तम में;
प्राण-पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना-जग रचने !

अरुण जलज के शोण-कोण थे, नव तुषार के बिंदु भरे।
मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि, कितनी साथ लिये बिखरे।
वह अनुराग हँसी दुलार की, पंक्ति चली सोने तम में;
वर्षा विरह कुहू में जलते, स्मृति के जुगुनू डरे डरे।

सूने गिरी-पंथ में गुंजरित शंखनाद की ध्वनि चलती,
आकांक्षा-लहरी दुख-तटनी पुलिन-अंक में थी ढलती।
जले दीप नभ के, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले,
भरा रह गया, आँखों में जल, बुझी न वह ज्वाला जलती।

"माँ !—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी—
लुटरी खुली अलग, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी को जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

"कहाँ रहा नटखट तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना?
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख तो दिया घना।
चंचल तू बनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जावे, करती कैसे तुझे मना।"

"मैं रूठूं माँ और मना तू कितनी अच्छी बात कही।
ले मैं सोता हूँ अब जाकर बोलूंगा मैं आज नहीं।
पके फलों से पेट भरा है, नींद नही खुलने वाली,
श्रद्धा चुंबन से प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके;
मुक्त उदास गगन के उर में छाले बनकर जा छलके।
दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं;
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में वह जाता है गल के।

प्रणय-किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता।
मधुर चाँदनी-सी तंद्रा जब फैली मूर्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता!

कामायनी सकल अपनी सुख स्वप्न बना-सा देख रही;
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;
जो कुसुमों के कोमल दल में कभी पवन पर अंकित था;
आज पपीहा के पुकार-सी नभ में खिंचती देख रही।

श्री राय कृष्णदास

जन्म—संवत् १९४९ विक्रमी; निवास-स्थान—काशी।

आपकी 'राय' उपाधि बादशाही जमाने से वंशानुक्रम से, चली आती है। आपके पिता राय प्रह्लाददास महोदय संस्कृत के ज्ञाता और काव्य-प्रेमी थे। उन्होंने श्रीकृष्णदास जी का शिक्षा-संस्कार घर पर ही अपने इच्छानुकूल किया। स्व० आचार्य द्विवेदी तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त जी से आपको कवि-जीवन की प्रेरणाएँ प्राप्त हुई। उन्हीं के द्वारा आपने हिन्दी में एक साहित्यकार के रूप में प्रवेश किया।

राय साहब अपने संपूर्ण अर्थों में कवि हैं। पद्य-बद्ध रचना-मात्र में सीमित न रह कर, आपने गद्य-काव्य भी बहुत सफलतापूर्वक लिखे हैं। 'साधनाकार' श्री कृष्णदास हमारे आगे अपना जो स्वरूप स्थिर करते हैं, वह निस्सन्देह बहुत ऊँचा है। 'छायापथ', 'संलाप', तथा 'प्रवाल' आपकी ऐसी ही, स्थायी साहित्य की अमूल कृतियाँ हैं।

राय साहब कहानी-लेखक भी उच्चकोटि के हैं। 'अनास्था' तथा 'सुधांशु' आपकी कहानियों के संकलन, भावात्मक कहानियों के क्षेत्र में अपना पृथक् स्थान रखते हैं। 'भावुक' तथा 'ब्रजराज' आपकी कविताओं के संकलन हैं। खड़ी बोली के सिवा आप ब्रजभाषा में कविता लिखते रहे हैं। उत्थानकालीन धारा में, भावात्मक शैली के आप एक उच्चकोटि के कवि हैं।

समर्थन

खूब किया, जो तुमने इसको ला पिंजड़े में बन्द किया।
चारा चुगने को बेचारा दर-दर फिरता मारा-मारा!
दूध-भात बैठा खाता है, आहा! क्या आनन्द दिया!
तरु-कोटर-वासी निरीह को स्वर्णासन आसीन किया!
वन-विहंग को सुजन बनाया, बातचीत करना सिखलाया!
रामनाम का मजा चखाया, अमर किया, स्वाधीन किया!

संबंध

मैं इस झरने के निर्झर में प्रियवर, सुनती हूँ वह गान;
कौन गान! जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण।
कौन प्राण? जिसका निशि-वासर रहता एक तुम्हारा ध्यान;
कौन ध्यान? जीवन सरसिज को जो सदैव रखता अम्लान।

खुला द्वार

नलिनी-मधुर गंध से भीना पवन तुम्हें थपकी देकर——
पैर बढ़ाने को उत्तेजित बार-बार करता प्रियवर;

उधर पपीहा बोल-बोलकर तुमसे करता है परिहास;
पहुँच द्वार तक अब क्यों आगे किया न जाता पद विन्यास।

यद्यपि चन्द्र, तुम्हारा आनन देख विलज्जित हुआ नितांत;
छिपता फिरता है वह देखो, घने-घने वृक्षों में कांत।

पर डालों के जाल-रंध्र से भी उझक-उझक जैसे!
झाँक रहा है अहो! तुम्हारा आना रुक जाना ऐसे।

आए हो कुछ यहाँ नहीं तुम पथ को भूल भ्रमित होकर;
यहाँ पहुँचने ही को केवल अहा! चले थे तुम प्रियवर!

धूल धूसरित चरणों का क्या है विचार? यह तो है भूल;
जगतीतल में और कहाँ मिल सकती मुझे स्नेहमय धूल,

पद-स्पर्श से पुण्य धूलि वह शीश चढ़ावेगी चेरी;
प्रेम योगिनी होने में बस होगी वह विभूति मेरी।

फिर इतना संकोच व्यर्थ क्यों! बतलाओ जीवन अवलम्ब;
खुला द्वार है, भीतर जाओ, मानों कहा, करो न विलम्ब।

पुतलियाँ

असित, हसित है, गम्भीर स्निग्ध शांत है,
विमल प्रशस्त भव्य कोमल है, कांत है।

शारदीय सुन्दर अनन्त छविवाली है;
आँखों की ये पुतलियाँ तुम्हारी हैं।

थाह लेना चाहता कपोत ज्यों गगन की,
मन में ही किन्तु रह जाती चाह मन की।

त्यों ही मैं उनकी व्यर्थ थाह लेना चाहता;
मानों पूर्ण पारावार को हूँ अवगाहता।

श्री मुकुटधर पाण्डेय

जन्म—आश्विन मास, सवत् १९५२ विक्रमी; निवास-स्थान—बालपुर, जिला विलासपुर।

प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा पास कर आप कॉलेज में भरती हुए थे, पर स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण आपको पढ़ना छोड़ना पड़ा है। आप अपने बड़े भाई पंडित लोचन प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन से प्रभावित होकर लड़कपन से ही पद्य-रचना करने लगे थे। गद्य भी आप अच्छा लिखते हैं। आप बंगला भाषा की कई पुस्तकें अनुवादित कर चुके हैं। आप चित्र और संगीत प्रेमी, प्रकृति के उपासक तथा एक प्रतिभाशाली कवि हैं।

सन् १९६६ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने श्री मुकुटधर पांडेय को 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि देकर सम्मानित किया।

पांडेय जी ने इधर अनेक वर्षों से कविता लिखना बन्द-सा कर रखा है। कविताएँ भी आपने थोड़ी सी लिखी हैं, तथापि वे कुछ कविताएँ ही इतनी सुन्दर—ऐसी मर्मस्पर्शिनी—बन पड़ी हैं कि उन्हें भुलाया नहीं जा सकता—"मेरे जीवन के लघु तरणी आँखों के पानी में तर जा" पंक्ति का कवि, काश हमें ऐसा ही अमृत और अधिक दे पाता !

उद्गार

मेरे जीवन की लघु तरणी आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना, अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना, तप्त-स्वेदबूँदों में ढर जा !
मेरे नयनों की चिर आशा प्रेमपूर्ण सौन्दर्य पिपासा
मत कर नाहक और हताश, आ, मेरी आहों में भर जा !
मृदुल मनोरथ तरु में फूला, फूल रंग में अपने भूला,
भूल चुका बस जो कुछ भूला, अब अपनी डाली से झर जा।

चढ़ी हृदय में चिता कराला, ऊपर नभ तक उठती ज्वाला,
मरण-दु:ख ! ले मुक्ता माला, गिरकर अब उसमें तू भर जा !
ऐ मेरे प्राणों के प्यारे,—इन अधीन आँखों के तारे !
बहुत हुआ मत अधिक सता रे ! बातें कुछ भी तो अब कह जा !
मानस भवन पड़ा है सूना, तपोधन का बना नमूना,
कर उसमें प्रकाश अब दूना, मेरी उग्र वेदना हर जा !
मोहित तुझको करने वाली, नहीं आज वह मुख की लाली,
हृदय यन्त्र यह रक्खा खाली, अब नूतन सुर इसमें भर जा !

कुररी के प्रति[1]

१

बता मुझे ऐ बिहग विदेशी ! अपने जी की बात।
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात।
निद्रा में जा पड़े किसी के ग्राम मनुज स्वच्छन्द।
अन्य विहग भी निज -खेतों में सोते हैं सानन्द।
इस नीरस घटिका में उड़ता है तू चितित गात।
पिछड़ा था तू कहाँ, हुई क्यों तुझको इतनी रात।

२

देख किसी माया प्रान्तर का चित्रित चारु दुकूल,
क्या तेरा मन मोह-जाल में गया कहीं था भूल?
क्या उसकी सौन्दर्य-सुरा से गया हृदय तब ऊब?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब?

१—कुररी पक्षी विशेष है, जो जाड़े के दिनों से दिखाई पड़ता है। दिन भर सुदूर खेतों में चुंगने के पश्चात् बड़ी रात गये, महानदी के गर्भ में विश्राम करने के लिए लौटती हुई कुररियों को संबोधित कर यह पद्य लिखा गया है।

या होकर दिग्भ्रांत लिया था तूने पथ प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

३

अन्तरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ?
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?
किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति या उठी हृदय में जाग ?
जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग ?
शून्य गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल विलाप ?
बता कौन सी व्यथा तुझे है, है किसका परिताप ?

४

यह ज्योत्स्ना रजनी हर सकती क्या तेरा न विषाद ?
यह तुझको निज जन्मभूमि की सता रही है याद ?
विमल व्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये द्वीप;
इन्द्रजाल तू उन्हें समझकर जाता है न समीप ?
यह कैसा भयमय विभ्रम है, कैसा वह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू, आई क्या तुझे गेह की याद ?

५

कितनी दूर ? कहाँ किस दिशि में तेरा नित्य निवास ?
विहग विदेशी आने का क्यों किया यहाँ आयास ?
वहाँ कौन तारागण करता है आलोक प्रदान ?
गाती है तटिनी उस भू की बता कौन-सी गान ?
कैसी स्निग्ध समीर चल रही ? कैसी वहाँ सुवास ?
किया यहाँ आने का तूने कैसा यह आयास ?

श्री सियारामशरण गुप्त

जन्म—भाद्रपद १५, संवत् १९५२ वि०; निवासभूमि—चिरगाँव झाँसी।

आप कविवर मैथिलीशरण गुप्त के अनुज थे। आपका शिक्षारंभ गाँव की पाठशाला में हुआ था। घर के कामकाज में लगे रहकर भी आपने अपने पिता तथा भाइयों के पास बैठकर काव्य तथा साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। आपका रचनाकाल सन् १९१९ से प्रारम्भ हुआ। अपने ज्येष्ठ भ्राता स्व० गुप्तजी, स्व० आचार्य द्विवेदी तथा अमरशहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रोत्साहन का आपकी गति पर बहुत प्रभाव पड़ा। आपके लिखे हुए अनेक काव्य कहानियाँ तथा उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

स्व० सियारामशरण जी ने काव्य-क्षेत्र में अपने अग्रज के अनुगामी मात्र न रहकर अपना एक स्वतन्त्र पथ ग्रहण किया था। हिन्दी कविता की नवीन धारा की ओर उनकी दृष्टि सहज रहती थी।

स्व० सियारामशरण जी की रचनाओं में अध्यात्मवाद का भी सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। 'आर्द्रा', 'विषाद', 'दूर्वादल', 'आत्मोत्सर्ग', 'मृण्मयी', 'नकुल', 'अनाथ' तथा 'मौर्य विजय' सियारामशरण जी की बड़ी सुन्दर रचनाएँ हैं। कोमल भावनाओं में जिज्ञासा तथा संकेतात्मक चमत्कार में यह कवि उत्थानकालीन धारा का एक सफल तैराक था।

सं० २०२० वि० में दिल्ली के एक अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गयी।

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश मलमलकर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको बाँधा है इस बंधन में ?
फाँसी-सी है पड़ी गले में नीचे गिरता जाता हूँ;
बार बार इस अंधकूप में इधर-उधर टकराता हूँ।

ऊपर नीचे तम ही तम में बन्धन है अवलम्ब यहाँ।
यह भी नहीं समझ में आता गिरकर मैं जा रहा कहाँ;
काँप रहा हूँ भय के मारे, हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण,
ऐसे दुखमय जीवन से हा! किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण?
सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या, नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या?;-यह तो अगम नीर है डूबा! अब डूबा मैं हाय!
भगवन! हाय! बचालो, अब तो, तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में आर्त्तनाद करके तब तक?
अरे, कहाँ वह गई रिक्तता, भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा बना रहूँ तो क्यों न यहीं
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा उज्ज्वलतर जीवन लेकर;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता यह नवजीवन भी देकर।

वंचित

चढ़कर ढूही पर, खड्डों में उतर के
वक्र पथ सौ-सौ पार करके,
घूम फिर हिंस्र जंतुओं से भरी झाड़ियाँ

छान डाली दुर्गम पहाड़ियाँ।
किन्तु जिसकी थी चाह,
पारस मिला न आह!
अंध कारागार में से छूटकर,
ऊपर - से - टूटकर
हर हर नादिनी

दौड़ती हुई सी जहाँ बहती थी ह्लादिनी,
पत्थरों के साथ टकराती हुई,
विजन वनों में बल खाती हुई,

अपने किनारे आप ही थपेड़
भू पर गिराती हुई—
ऊँचे पेड़
दूर तक घूम घूम, खोज-खोज मैं थका
पारस वहाँ भी हा! न पा सका
क्षुब्ध रुद्र
जान पड़ता था जहाँ भीषण महासमुद्र;
अंतहीन यात्रा में भटक के
लहरें भुजंगिनी-सी उठ फुफकारकर
पार पर
क्रोध भरी फन-सा पटक के
अस्त करती थी जहाँ
रात-दिन खोजता हुआ ही वहाँ
घूमता फिरा मैं भूल भूख-प्यास,
छिन्न पद छिन्न वास।
किन्तु वह रत्नाकर
अंत में प्रतीत हुआ शंख-शुक्तियों का घर।
प्यासा ही रहा मैं वहाँ
जान भी सका न वह पारस मिलेगा कहाँ।
करके प्रयत्न सभी हार के,
अंत में लौटा झख मार के।
इतने दिनों की तपश्चर्या कड़ी
जीवन की साधना कठोर यह ऐसी बड़ी
निष्फल हुई यों हाय!
बैठ गया मेरा मन भग्नप्राय!

एक दिन अतल तड़ाग के किनारे क्लांत
बैठा हुआ था मैं श्रांत,

आस पास दूर तक शस्य भरे
शोभन हरे हरे
खेत लहराते थे;
डालों के हिंडोलों पर
बैठे हुए विविध विहँगवर
कल-कल कूजन सुनाते थे।
उठती तरंगें थी सुनीर में
सन-सन शब्द था समीर में

ऊपर सुनील महाकाश था;
भू पर तड़ाग में भी वैसा ही विभास था।
पत्थरों की सीढ़ी पर सुश्री भरी
स्नान कर बैठी अपूर्व एक सुन्दरी।

भीगा हुआ वस्त्र ही थी पहिने;
धारण किए हुए सुवर्ण-रंग
अंग-अंग उसके बने थे स्वयं गहने
ललित कपोलों पर लूटे हुए केश दाम।

हिल-डुल क्रीड़ा करते थे कांति धाम।
उसमें से चूते हुए वारि बिंदु झलमल।
शोभा बरसाते थे प्रतिपल।
नये नये मोती प्रकटाते थे!

बायाँ पैर नीचे लटकाये नील तीर तर,
दायाँ पैर रखे हुए सीढ़ी के प्रतीर पर,

अपने नीकीले नेत्र नीचे किये
पत्थर की बट्टी हाथ में लिये

एड़ी मलती वह बार-बार पानी डाल!
एकाएक हो गया विचित्रतर मेरा हाल!
काँप उठा सारा तन सहसा उसे निहार,
बार-बार

देखी वह बट्टी जब दृष्टि फेंक,
संशय रहा न नेक—

यत्न सब कर-कर
खोजता फिरा जिसे मैं जन्म भर
पारस वही है, यह है वही।
मेरी तप साधना का श्रेष्ठ फल है यही।

छोड़ निज ग्राम देह,
तप में तपा के देह,
रात दिन तेरा ध्यान ही किये,
हे सुरत्न तेरे लिए

घूमा-फिरा दूर-दूर कितना कहाँ-कहाँ
तू तो अरे, था समीप ही यहाँ!
होने लगा मस्तक विघूर्णमान;
रत्न यह अतुल महा महान्
हस्तगत कैसे कर पाऊँ मैं!

लक्ष्मि क्या उठेगी न तू साँग निज स्नान कर,
कब तक बैठी ही रहेगी इसी स्थान पर?

पैर मलती तू और मैं हूँ हाथ मलता;
पल पल का भी है विलंब मुझे खलता।

छोड़-अरी छोड़, इसे छाती से लगाऊँ मैं।
एकाएक करके समाप्त काम
अविराम

फेंक दिया उसने सुरत्न बीच जल में।
हँसता हुआ-सा व्यंग नाद कर,
डाल मानों पानी उस मेरे महाह्लाद पर—
डूबा वह सत्वर अतल में।

बार-बार

छाती पर घूँसा मार
जोर से मैं चीख पड़ा—
सुन्दरी अनर्थ यह कैसा किया तूने बड़ा!

तेरे हाथ में था जो अभी
त्रिभुवन की श्री सभी
उसके समक्ष थी नितांत हेय

पारस निरुपमेय

फेंक दिया तूने अरी क्यों अथाह जल में?
कैसा सर्वनाश किया तूने एक पल में!

क्षण भर मौन रह,

नारी हँसी उच्च अट्टहास से,
और भी प्रदीप्त दंत-पंक्ति के प्रकाश से

बोली वह—
"दोष किसे देता है अरे अपात्र ?
तेरे लिए था वह लोष्ठ-मात्र।
तू ही जान-बूझ के छला गया,
तेरे हाथ से ही यह रत्न है चला गया।"

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म—माघ शुक्ल ५, संवत् १९५३ वि०; मृत्यु—आश्विन शुक्ल ६, सं० २०१८ वि०; जन्मभूमि—महिषादल स्टेट।

आप प्रयाग में रहते थे: कविता की ओर आपको बचपन से ही रुचि थी। मैट्रिकुलेशन में पहुँचकर दर्शन की ओर झुकाव हुआ। दो वर्ष तक आप 'समन्वय' के सम्पादक रह चुके थे। आपको संस्कृत और बंगला भाषा-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। संगीत की शिक्षा भी आपको महिषादल दरबार में मिली थी। आप अपनी शैली के विशिष्ट कवि और हिन्दी काव्य के नवीन युग उपस्थित करने वालों में अग्रणी थे। आप कवि ही नहीं, सफल उपन्यासकार, कहानी-लेखक तथा योग्यतम निबन्धकार भी थे। 'परिमल', 'गीतिका', 'अनामिका', तथा 'तुलसीदास', आपके काव्य; 'लिली' तथा 'सखी' कहानी संग्रह और 'अलका', 'अप्सरा', 'प्रभावती' तथा 'निरुपमा' आपके उपन्यास हैं।

'निराला' जी की कल्पनाएँ उड़ते हुए विहँग की भाँति सर्वथा स्वच्छन्द किंवा मुक्त होती थीं। वे आध्यात्मिक भावना से एक सौन्दर्य-द्रष्टा कवि थे। उनके इस स्वरूप की झाँकी हमें सर्वत्र देखने को मिलती है।

साहित्य में 'निराला' जी एक शैलीकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके चित्रण में व्यंग और परिहास के छींटें स्थल-स्थल पर मिलते हैं। यथार्थवाद की छाप भी उनके कथा-साहित्य पर पड़ी, यद्यपि वे आदर्शवाद से सर्वथा पृथक् नहीं हो पाये हैं।

उत्थानकालीन धारा के कवियों में कल्पना का उड़ान कवि 'निराला' की सबसे ऊँची है। जीवन और उसके विविध स्वरूपों पर भी उनकी दृष्टि गयी है। इस प्रकार 'निराला' जी हमारे आज के जीवन के प्रतिनिधि कवि हैं।

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार!
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार!
आँखें अलियों सी
किस मधु की गलियों में फँसी,

बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोई कमल कोरकों में?—
बन्द हो रहा गुंजार
जागो फिर एक बार!

अस्ताचल ढले रवि,
शशि छवि विभावरी में
चिंतित हुई है देख
यामिनी गन्धा जगी,

एकटक चकोर दर्शन प्रिय
आशाओं भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रही चन्द्र की चाव से,

शिशिर-भार-व्याकुल कुछ
खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन उभार—

जागो फिर एक बार!

पिउ-रव-पपीहे बोल रहे,
सेज पर विरह विदग्ध वधू

याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु
नयन जल ढल गए
लघुतर कर व्यथा भार—

जागो फिर एक बार!

सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन नीर

शयन-शिथिल बाहें
भर स्वप्निल आवेश में,

आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्त सुखोन्माद हो;

छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर

कल्पना से कोमल
ऋजु कुटिल प्रसार-कामी केश गुच्छ

तन-मन थक जायँ
मृदु सुरभि-सी समीर में

बुद्धी बुद्धी में हो लीन,
मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार—

जागो फिर एक बार!

उगे अरुणाचल में रवि
आई भारती रति कवि कण्ठ में,
क्षण-क्षण में परिवर्तित
होते रहे प्रकृति पट
गया दिन आई रात
गई रात, खुला दिन
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हजार—

जागो फिर एक बार!

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृंग, और मैं चंचलगति सुर सरिता।
तुम विमल-हृदय उच्छ्वास, और मैं कान्त कामिनी कविता।

तुम प्रेम—और मैं शान्ति।

तुम सुरापान-घन अन्धकार, मैं हूँ मतवाली भ्रांति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल, मैं सरसिज की मुस्कान।।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहिचान।

तुम योग—और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप; मैं सुचिता सरल समृद्धि॥
तुम मृदुमानस के भाव और मैं मनोरंजनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घट-विटप, और सुख शीतल तल शाखा॥
तुम प्राण—और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया॥
तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर पल्लव झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी॥
तुम पथ हो—मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन, मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रांत, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम नभ हो—मैं नीलिभा।
तुम शरद-सुधाकर कला-हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा॥
तुम गंध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय समीर॥
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति प्रेम जंजीर॥
तुम शिव हो—मैं शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति॥
तुम आशा के मधुमास, और मैं पिक-कल कूजन तान॥
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥
तुम अम्बर—मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन पटल-स्याम, मैं तड़ित्तूलिका रचना॥
तुम रण ताण्डव उन्माद नाद, मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि॥
तुम नामवेद ओंकार सार, मैं कवि श्रृंगार-शिरोमणि॥
तुम यश हो—मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इंदु अरविंद शुभ्र-तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति॥

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जन्म—संवत् १९५४ विक्रमी तथा मृत्यु—संवत् २०१७ वि०; जन्म स्थान—शाजापुर (मध्य प्रदेश)।

आपके पिता पंडित जमनादास जी एक सच्चे वैष्णव तथा कृष्ण-काव्य के बड़ अनुरागी थे। जान पड़ता है वही काव्यानुराग उनके इस आत्मज में रसानुभूति से विकसित होकर कवि रूप में पड़ा है। शर्माजी ने माधव कालेज, उज्जैन से एण्ट्रेंस परीक्षा पास की। इसके बाद आपने कानपुर से क्राइस्ट चर्च कालेज में अध्ययन किया। आप जब बी० ए० फाइनल में थे, उसी समय असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। आपने तुरन्त राष्ट्र के आह्वान का साथ दिया और कालेज छोड़ दिया। इस अध्ययन काल में स्वनामधन्य स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी से आपको बड़ी सहायता मिली और कालान्तर में आपकी उनसे आत्मीयता हो गई। बस, तब से आप 'प्रताप' परिवार के अंग बन गए।

शर्माजी हमारे प्रान्त के अग्रणी नेताओं में थे। वे हिन्दी के एक परिष्कृत और ओजपूर्ण सुवक्ता भी थे। पत्रकार होने के अलावा कहानीकार, और निबन्धकार के रूप में भी वे हमारी भाषा के एक योग्यतम साहित्यकार प्रसिद्ध हैं।

कवि रूप में शर्मा जी उत्थानकालीन वर्ग में सबसे अधिक प्रगतिशील हैं। उनकी अपनी एक शैली है, और उसके वे मास्टर हैं। एक वाक्य में कहा जाय तो मैं कहूँगा—कवि 'नवीन' जीवन की मस्ती का गायक है। नवीन युग की भावनाओं का सबसे अधिक प्रभाव इस वर्ग में अगर किसी पर पड़ा है तो, वह 'नवीन' पर। हमारे आज के जीवन में वैषम्य है, पग-पग पर आघात और असफलताओं का जो क्रन्दन है—संघर्ष से उभड़नेवाला विद्रोह है—कवि 'नवीन' की कविता में वह पूर्णवेग के साथ फूट पड़ा है।

विप्लव-गान

कवि, कुछ एसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,

(१)

एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुँआधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जायें भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप पुण्य सद् सद् भावों की धूल उड़ उठ दायें बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये,

(२)

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटें हो जाये,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये,

(३)

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश ! नाश ! हा महानाश की प्रलयंकारी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

(४)

सावधान! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजरावें युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी पल में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त है—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्धगीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से!!

(५)

कण कण में है व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है, काल कूट फणि की चिन्तामणि,
जीवनज्योति लुप्त है—अहा! सुप्त संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही है प्रति पल में—इस नाजुक संरक्षण की लड़ियाँ,
चकनाचूर करो जग को, गूँजे ब्रह्मांड नाश के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतम से!!

(६)

दिल को मसल मसल मेंहदी रचता आया हूँ मैं यह देखो—
एक-एक अंगुलि परिचालन में नाशक ताण्डव की पेखो।
विश्वमूर्ति! हट जाओ, मार यह भीम प्रहार सहे न सहेगा।
टुकड़े टुकड़े हो जाओगी, नाश मात्र अवशेष रहेगा,
आज देख आया हूँ जीवन के सब राज समझ आया हूँ।
भू-विलास में महानाश के पोषक सूत्र परख आया हूँ।
जीवनगीत भुला दो, कण्ठ मिला दो, मृत्युगीत के स्वर में,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतम से

बिंदिया

लघुकेन्द्र बिन्दु है क्या यह मेरी वेदना-परिधि का,
लोहित मोती यह क्या है, मम अतल-वितल-वारिधि का।

कितने गहरे से उसकी सुकुमारि, उठा लाई हो;
कितनी हिम निधियाँ बोलो, तुम आज लुटा लाई हो
क्या नृत्य चतुर नयनों की है सुघड़ ताल की ठुमकी;
यह बिन्दी है सिंदूर की—या टिकुली कुमकुम की;
भृकुटी संचालन से ही यों उथल पुथल होती थी;
यह लगन विचारी यों ही अपनी सुध-बुध खोती थी।

यह भ्रूविलास तो था ही, टिकुली भी आन पधारी;
भौंहों के मृदु फंदे में पड़ गई गाँठ सुकुमारि।
क्या सुन्दर साज सजा है मृदुनयनों की गाँसी का।
है खूब इकट्ठा समाँ, इन प्राणों की फाँसी का।
यौवन की सब अँगड़ाई, यह बिन्दुरूप बन आई;
घूंघट के झीने पट अरुणाभा छन-छन आई;
मानस की मदिर हिलोरें भर गई बूंद में आकर
इठलाते अल्हड़पन को क्या ही छलकाया लाकर।

लोकोक्ति सदा सुनते हैं सागर में सागर भरना;
या एक बूंद में सजनी, देखा है सिन्धु लहराना।
सखि, गोले भाल क्षितिज पै यह अरुण इन्दु उग आया।
किस सुघड विधाता ने यह आरक्त बिन्दु छिटकाया

इस एक बूंद में बाले कितना विष भर लाई हो।
हिय कब से तड़प रहा है, क्या जादू कर आई हो।
जीवन ऊषा की प्राची हो गई आज अरुणा सी;
मेरी उत्कंठा सजनी छिटकी लोहित करुणा सी।

आकुल आँखों में छाई कुछ लाल-लाल झाईं सी।
आकर देखो, यह क्या है टिकुली की परछाईं सी;
बिंदिया की परछाई का नैनों में अक्स उतारे
कब से बैठा हूँ रानी प्रतिबिम्ब हिये में धारे।

मत जाओ यों मुँह फेरे, अब यों आँखें न चुराओ;
बिंदी विलसित मुख प्यारा, घूँघट पट में न दुराओ।
कितने भावों को मथ के सिंदूर बनाया तुमने;
अलि, बलि कितनी ले ली है, बोली तो इस कुंकुम ने।

संध्या की सकल अरुणिमा ऊषा की सारी लाली,
हो सार रूप बन आई, यह एक बूंद मतवाली,
मेरी वेदना-व्यर्थ की, रंजित आरक्त कहानी,
आँसू में घुल-घुल रानी, बिंदिया बन गई सयानी।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म—संवत् १९५७ विक्रमी, जन्म-स्थान—कौसानी, जिला अल्मोड़ा।

सन् १९२० में सेकेन्ड ईयर से आपने पढ़ना छोड़ दिया था। हिन्दी अंग्रेजी के अतिरिक्त संस्कृत और बंगला भाषा तथा साहित्य का भी आपको अच्छा ज्ञान है। प्रकृति से आप सहृदय और मृदुभाषी हैं।

सन् १९१५ में आपने 'हार' नामक उपन्यास लिखा था। १९२१ में आपका 'उच्छ्वास' काव्य प्रकाशित हुआ और १९२६ में 'पल्लव', तदनन्तर 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'गुंजन' काव्य तथा 'ज्योत्स्ना' नाटक उसके बाद 'युगान्तर', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' काव्य प्रकाशित हुए हैं। कुछ कहानियाँ भी आपने लिखी हैं।

पंतजी का कवि हृदय प्रकृति के सर्वव्यापक स्वरूप का अनन्य द्रष्टा है। अभिव्यंजना में वह चिर मृदुल हैं—भावों में कोमल और पदावली में कान्त। उनकी कल्पनाएँ अनुभूति के भीतर फूट निकली हैं। उनके निष्कर्ष में दार्शनिकता का मर्मस्पर्शी संकेत है।

छन्द-ग्रहण में पन्तजी शैलीकार हैं और शब्दसृजन में अभिनव शिल्पी जीवन के सुकुमार वृत्तियों के चित्रांकन में अग्रणी हैं।

सन् १९४७ के उपरान्त पंत जी के काव्य पर अरविंद दर्शन का गहरा प्रभाव पाया जाता है। 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'अतिमा' आदि इसका प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। 'लोकायतन' नाम से अभी उनका एक महाकाव्य भी प्रकाशित हुआ है।

लोगी मोल

लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल—लोगी मोल?
तरल तुहिन-वन का उल्लास, लोगी मोल—लोगी मोल?
फैल गई मधु ऋतु की ज्वाल, जल जल उठती बन की डाल,
कोकिल के कुछ कोमल बोल, लोगी मोल—लोगी मोल?
उमड़ पड़ा पावस परिप्रीत, फूट रहे नव-नव जल स्रोत,
जीवन की ये लहरें लोल, लोगी मोल—लोगी मोल?
विरद-जलद-पट खोल, अजान, छाई शरद-रजत-मुस्कान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल, लोगी मोल—लोगी मोल?
अधिक अरुण है आज सकाल चहक रहे जग जग खग वाल।
चाहा तो सुन लो जी खोल, कुछ भी आज न लूँगी मोल।

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार, चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं अब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन।

सघन मेघों का भीमाकाश, गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःस्वास प्रखर, झरती जब पावस-धार,
न जाने तपक तड़ित में कौन, मुझे इंगित करता तब मौन।

देख वसुधा का यौवन भार, गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उरके-से मृदु उद्गार कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन, संदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध जल शिखरों की जब बात, सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार बना, विधुरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर कौन, न जाने मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण-सुख, श्री सौरभ में भोर, विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कण्ठ हिलोर, मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने, अलस-पलक, दल कौन, खिला देता तब मेरे मौन,

तुमुल तम में जब एकाकार, ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार कँपा देती तन्द्रा के तार,
न जाने खद्योतों से कौन, मुझे तब पथ दिखलाता मौन।

कनक छाया में जब कि सकाल, खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल पिघल बन जाते हैं गुंजार
न जाने ढुलक ओर में कौन, खीच लेता मेरे दृग मौन!

बिछा कार्यों का गुरुतर भार, दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शैया में श्रमित अपार, जुड़ाता मैं जब आकुल प्राण,
न जाने मुझे स्वप्न में कौन, फिराता छाया जग में मौन!

न जाने कौन अये द्युतिमान! जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान, फूँक देते छिद्रों में गान!
अहो सुख के सहचर मौन, नहीं कह सकता तुम हो कौन!

पलाश

मरकत वन में आज तुम्हारी नव-प्रभात की डाल,
जगा रही उर में आकुल आकांक्षाओं की ज्वाल।

पीपल, चिलबिल, आम्र नीम की पल्लव श्री-सुकुमार—
तुम्हीं उठाए हो पर वसुधा का मधु यौवन भार।
वर्ण-वर्ण की हरीतिमा का वन में भरा विकास।
शत मधु पुष्पों के रंगों की रत्नछटा पलाश।
प्रकट नहीं कर सकती यह वैभव-पुष्कल उल्लास।
स्वर्ण मंजरित आम्र आज औ, रजत ताम्र कचनार,
नील कोकिला की पुकार है पीत भृंग-गुंजार,
वर्ण स्वरों के मुखर तुम्हारे मौन पुष्प अंगार,
यौवन के नव रक्त तेज का जिसमें मदिर उभार।
हृदय रुधिर ही अर्पित कर मधु को, अर्पण श्री शाल।
तुमने जग में आज जला दी दिशि-दिशि जीवन ज्वाल!

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

जन्म संवत्—१९५१ विक्रमी; जन्मस्थान—ऊपरडीह, गया।

आपकी शिक्षा घर पर ही हुई। हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषा साहित्य का आपने अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। 'माधुरी' सम्पादक पं० रूपनारायण पांडेय तथा पंडित रामवृक्ष बेनीपुरी के प्रोत्साहन से आपने कवि जीवन में सफलता प्राप्त की।

'वियोगी' जी प्रगतिशील कवि हैं। रचनाक्रम की ओर दृष्टि डालकर देखा जाय, तो आपकी अभिव्यंजना अन्य समकालीन कवियों से सर्वथा भिन्न है। जीवन के नवल उत्थान में आपने अवसाद निराशा और कसक के गान गाये, किन्तु आगे चलकर आप केवल कल्पना के खिलाड़ी न होकर यथार्थ जीवन के व्याख्याकार सिद्ध हुए। तभी आप युग के पुकार के साथ-साथ कभी 'वीणा' कभी 'एकतारा' बजाते चल रहे हैं। 'निर्माल्य' 'एकतारा' तथा 'कल्पना' आपके कविता संकलन हैं। आपका 'आर्यावर्त' नामक नवीन काव्य भी हिन्दी जगत् में काफी पसन्द किया गया।

कवि 'वियोगी' प्रतिभावान गद्य-लेखक भी हैं। आपकी कहानियों में आज के जीवन संघर्ष का चित्रण मिलता है। किन्तु कहानीकर की अपेक्षा संस्मरणकार 'वियोगी' कवि अधिक सफल हुआ है। इस प्रकार 'वियोगी' हमारे एक जागरूक कवि ही नहीं, सर्वतोमुखी साहित्यकार हैं।

एकतारा से

किंतु निर्मम सिकचों को काट नहीं वह जा सकता है कहीं,
कल्पना हो जितनी स्वच्छन्द रहेगी उसकी मिट्टी यहीं।

सोच ले, बन्दी ने भी प्रिये, त्याग कर सुख, जीवन-आधार;
न त्यागा भावों का उन्मेष, न त्यागा करना जी भर प्यार।

हृदय है अन्धकार में बन्द, घिरा पंजर से चारों ओर,
तड़पता ही रहता है सदा, भाव की खाकर मार कठोर।

नयन ने देखा तेरा चित्र, हृदय ने किया मचल कर प्यार।
बिका मन जाकर मेरे हाथ और तन बैठा सब कुछ हार।

इसे कहते हैं प्रभु की मार लुटा मंडिर में जाकर भक्त;
हुआ रवि का किरणों पर आज, अभागा कंज हाय अनुरक्त।

आँसू

हे मेरी आँखों के आँसू! हे इस जीवन के इतिहास!
छलक पड़ो मत, रहो अंत तक उमड़े इस दुनिया के पास!

हे करुणा के चिह्न! अहो अभिलाषा की नीरव भाषा?
मत छलको है टँकी हुई तुम पर ही मेरी शुभ आशा!

हृदय-वेदना के परिचायक! निराधार के हे आधार!
अंतस्तल को धोनेवाले! हे मेरे सु-मूक उद्‌गार?

हे मेरी असंख्य भूलों के मूर्तिमान सच्चे अनुताप !
शीतल करते रहो सदा इस दग्ध हृदय का भीषण ताप !

हे कितनी घटनाओं की स्मृति ! हे मेरी आँखों की लाज ?
क्या जाने क्या तुम्हें छलकता देख कहेगा क्षुब्ध समाज ?

कितने स्नेह, शोक के ही उपहार-तुल्य तुम मेरे पास।
वात-बात में यों मत छलको, खो जावेगा फिर विश्वास।

बल न उठेगा सहसा, जिससे बना रहे सुखदायक शांत।
रक्खा है प्रज्वलित प्रेम को तुम में डूबा है उद्भ्रान्त।

वार-बार इस नीरस जग को अपना रूप न दिखलाओ।
उषाकाल के तारागण से इन नयनों में छिप जाओ।

हे मेरे इस जीवन भर की कठिन कमाई ! छिपे रहो।
आवश्यकता नहीं तुम्हारी, आई भाई छिपे रहो।

नहीं सफाई देने की बारी आई है, छिपे रहो।
नहीं झलक अब तक प्रियतम ने दिखलाई है, छिपे रहो।

यों ही ढुलक पड़ोगे, तो मिट्टी में मिल जाओगे यार।
"लोचन जल रहु लोचन कोना", यही विनय है बारंबार।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

आपका जन्म श्रावण शुक्ल ५ संवत् १९६१ को प्रयाग में हुआ था। वहाँ के क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में आपने शिक्षा प्राप्त की। सन् १९१६ में आपका विवाह खंडवा निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान, बी० ए०, एल-एल० बी० के साथ हुआ। कलकत्ते की कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव पास होने पर आपने स्कूल छोड़ दिया।

सुभद्रा जी का स्थान उत्थानकालीन धारा की कवयित्रियों में सबसे ऊँचा माना जाता है। 'मुकुल' तथा 'त्रिधारा' आपके कविता-संग्रह हैं और

'बिखरे मोती' कहानी संग्रह। मुकुल काव्य पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन से ५००) का सेक्सरिया-पारितोषिक मिल चुका है। आपकी कविता में राष्ट्र-चेतना के बड़े ज्वलन्त भाव पाये जाते है। असमय में ही आपका निधन हो गया।

त्रिधारा के वक्तव्य में श्री लक्ष्मण सिह जी सुभद्रा जी के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"वे पराकोटिवादी हैं। उनका प्रेम, उनका आनन्द, उनका उल्लास, उनका नैराश्य, उनका जीवन और उनकी देशभक्ति—सब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हुए मिलते हैं। जब वे अनुभव करती हैं; तब हृदय के किसी एक कोने में नही करती, किन्तु उनका सम्पूर्ण हृदय उस अनुभूति से ओत-प्रोत हो उठता है उस समय उनके हृदय में यदि किसी भावना का उदय भी होता है तो वह उसी रंग में रंगकर प्रधान अनुभूति की सहायक बन जाती हैं। उनकी काव्य प्रतिभा की चेतना तरंगिणी एक ओर स्वदेशी के कूल, दूसरी ओर मानवता के तट को चूमती हुई चलती है।"

सुभद्रा जी की काव्य कला की इससे अधिक स्पष्ट व्याख्या और क्या हो सकती है?

इसका रोना

तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है।
मैं कहती हूँ इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है।
सच कहती हूँ इस रोने की छवि जो जरा निहारोगे।
बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदों पर मुक्तावलि वारोगे॥१॥

ये नन्हें से ओंठ और यह लम्बी-सी सिसकी देखो।
यह छोटा-सा गला और यह गहरी-सी हिचकी देखो।
कैसी करुणाजनक दृष्टि है हृदय उमड़ कर आया है।
छिपे हुए आत्मीय भाव को यह उभाड़ कर लाया है॥२॥

हँसी वाहरी चहल-पहल को ही वहुधा दरसाती है।
पर रोने में अन्तरतम तक की हलचल मच जाती है॥
जिससे सोई हुई आत्मा जगती है, अकुलाती है।
छूटे हुए किसी साथी को अपने पास बुलाती है॥३॥

मैं सुनती हूँ कोई मेरा मुझको अहा बुलाता है।
जिसकी करुणापूर्ण चीख से मेरा केवल नाता है॥
मेरे ऊपर वह निर्भर है खाने, पीने, सोने में।
जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में, ज्यों रोने में॥४॥

मैं हूँ उसकी प्रकृति संगिनी उनकी जन्म-प्रदाता हूँ।
वह मेरी प्यारी बिटिया है, मैं ही उसकी माता हूँ॥
तुमको सुनकर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तों की पुकार सुन गर्वित होते हैं भगवान॥५॥

मेरा जीवन

मैंने हँसना सीखा है, मैं नहीं जानती रोना।
बरसा करता पल-पल पर मेरे जीवन में सोना।
मैं अव तक जान न पाई कैसी होती है पीड़ा?
हँस-हँस जीवन में कैसे करता है चिन्ता क्रीड़ा।
जग है असार सुनती हूँ मुझको सुख-सार दिखाता।
मेरी आँखों के आगे सुख का सागर लहराता।
कहते हैं होती जाती खाली जीवन की प्याली।
पर मैं उसमें पाती हूँ प्रतिपल मदिरा मतवाली।
उत्साह उमंग निरंतर रहते मेरे जीवन में।
उल्लास विजय का हँसता मेरे मतवाले मन में।
आशा आलोकित करती मेरे जीवन में प्रतिक्षण।
हैं स्वर्ण सूत्र से वलयित मेरी असफलता के घन।

सुखभरे सुनहले बादल रहते हैं मुझको घेरे।
विश्वास, प्रेम, साहस हैं जीवन के साथी मेरे॥

प्रथम दर्शन

प्रथम जब उनके दर्शन हुए हठीली आँखें उड़ ही गईं।
बिना परिचय के एकाएक, हृदय में उलझन पड़ ही गई।

मूँदने पर भी दोनों नेत्र खड़े दिखते सम्मुख साकार।
पुतलियों में उनकी छवि श्याम मोहिनी जीवित जड़ ही गई।

भूल जाने को उनकी याद किये कितने ही तो उपचार।
किन्तु उनकी वह मंजुल मूर्ति छाप-सी दिल पर पड़ ही गई।

विकासकालीन धारा

श्रीमती महादेवी वर्मा

आपका जन्म संवत् १९६४ विक्रमी में फर्रुखाबाद में हुआ था; पर बाल-जीवन में आपकी शिक्षा पहले इन्दौर फिर इलाहाबाद में हुई। ग्यारह वर्ष की अल्पवय में आपका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हो गया। आपके माता-पिता स्त्रियों के उच्च शिक्षा के पक्षपाती थे। तदनुसार विवाह होने के बाद भी महादेवी जी का अध्ययन चलता रहा। संवत् १९८५ में आपने संस्कृत और दर्शन विषयों के साथ बी० ए० और फिर संवत् १९८८ में संस्कृत लेकर एम० ए० पास किया। इस समय आप प्रयाग महिला विद्यापीठ में मुख्याध्यापिका हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने खड़ी बोली के गीतकाव्य को जीवन-शक्ति देने में जिस प्रतिभा का परिचय दिया, वह हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है। तृष्णा, व्यथा, सिहरन, टीस और प्राणों का मूर्त क्रन्दन, जैसा आपकी

रागिनी में व्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' तथा 'यामा' आपके काव्य-ग्रन्थ हैं। 'नीरजा' पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन से ५००) का सेक्सरिया पारितोषिक भी मिल चुका है।

महादेवी जी के गीतों ने इधर बड़ा प्रचार पाया है। यह उनकी सफलता का सबसे बड़ा चिह्न है। हिन्दी की आधुनिक कविता पर उनके गीतों की अमिट छाप है। अतृप्ति और विरह, महादेवी जी के गीतों की व्यंजना में पार्थिव प्रतीत होते हुए भी निस्संदेह ध्वनि से आध्यात्मिक हैं।

अतृप्ति

चिरतृप्ति कामनाओं का कर जाती निष्फल जीवन;
बुझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति जाती बन।

पूर्णता यही भरने की ढुल कर देना सूने घन;
सुख की चिरपूर्ति यही है, उस मधु से फिर जावे मन।

चिर ध्येय यही जलने का ठण्डी विभूति बन जाता।
है पीड़ा की सीमा, यह, दुःख का चिरसुख हो जाना।

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण-भर;
रहने दो प्यासी आँखें भरती आँसू के सागर।

तुम मानस में बस जाओ छिप दुःख के अवगुण्ठन से;
मैं तुम्हें ढूँढने के मिस परिचित हो लूँ कण-कण से।

तुम रहो सजल आँखों की सित-असित मुकुरता बनकर;
मैं सब कुछ तुमसे देखूँ, तुमको न देख पाऊँ पर।

चिर-मिलन विरह पुलिनों की सरिता ही मेरा जीवन;
प्रतिपल होता रहता हो युग-कूलों का आलिंगन।

इस अचल क्षितिज रेखा से तुम रहो निकट जीवन के;
पर तुम्हें पकड़ पाने के सारे प्रयत्न हों फीके।

द्रुत पंखों वाले मन को तुम अन्तहीन नभ होना।
युग उड़ जावें उड़ते ही परिचय हो एक न कोना।

तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं पग विरह-पथिक का धीमा;
आते जाते मिट जाऊँ, पाऊँ न पंथ की सीमा।

तुम हो प्रभात की चितवन, मैं विधुर निशा बन जाऊँ।
काटूँ वियोग-फल रोते, संयोग समय छिप जाऊँ।

आवे बन मधुर मिलन-क्षण पीड़ा की मधुर कसक-सा।
हँस उठे विरह ओठों में—प्राणों में एक पुलक सा।

पाने में तुमको खोऊँ, खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्त हो जीवन, चिर तृष्णा मिट जाना।

गूँथे विषाद की मोती चाँदी-सी स्मिति के डोरे!
हों मेरे लक्ष्य क्षितिज के आलोक तिमिर दो छोरें।

गीत

गो रहा यह विश्व, पर प्रिय तारकों में जागता है!

नियति बन कुशली चितेरा—
रँग गई सुखदुख रंगों से—
मृदुल जीवन पात्र मेरा।

स्नेह की देता सुधा पर अश्रु खारे माँगता है।

धूप-छाँह विरह बेला,
विश्व कोलाहल बना वह—
ढूँढती जिसको अकेला।

छाँह दृग पहचानते, पद-चाप यह उर जानता है।

रंगमय हे देव दूरी।
छू तुम्हें रह जायगी यह
चित्रमय क्रीड़ा अधूरी।
दूर रहकर खेलना पर मन न मेरा मानता है।

मेघ रूधा अजिर गीला।
टूटता-सा इन्दु-कन्दुक,
रवि झुलसता लाल पीला।
यह खिलौने और यह उर! प्रिय नयी असमानता है।

वह सुनहला हास तेरा!
अंक भर घनसार-सा
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।
मूंद पलकें रात करतीं जब हृदय हठ ठानता है।

गीत

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल—
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल वे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल-गल!
पुलक पुलक मेरे दीपक जल!

सारे शीतल कोमल नूतन
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कन,

विश्व शलभ सिर धुन करता मैं
हाय, न जल पाता तुझ में मिल।

सिहर-सिहर मेरे दीपक जल!

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक
फेनिल सागर का उर जलता,
विद्युत ले घिरते हैं बादल!

बिहँस-बिहँस मेरे दीपक, जल!

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी
बन्दी है तापों की हलचल!

बिखर-बिखर मेरे दीपक जल!

मेरी निःस्वासों से द्रुततर
सुभग, न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किये हूँ
अपनी मृदु पलकों से चंचल!

सहज-सहज मेरे दीपक जल!

सीमा-सी लघुता का बन्धन,
हे अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझसे भरती हूँ आँसू जल!

सजल सजल मेरे दीपक जल!

तुम असीम, तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नित खेल निरंतर,

तम के अणु अणु में विद्युत-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल !

सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल-जल कितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय;
मधुर मिलन से मिट जाता तू—
उसकी उज्ज्वल स्मृति में घुलमिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल !

प्रियतम का पथ आलोकित कर !

श्री रामकुमार वर्मा

श्री रामकुमार जी का जन्म महाकोशल प्रांत के सागर जिले में १९६२ विक्रमी में हुआ। आपकी माता स्वर्गीय राजरानी देवी भी एक कवयित्री थीं, अतएव हिन्दी की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हीं के द्वारा आपने पाई। सन् १९२२ के असहयोग आन्दोलन में आपने स्कूल छोड़ दिया, पर १९२३ में पुनः पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९२७ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० और १९२९ में एम० ए० पास किया। इस परीक्षा में आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उसी वर्ष प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए।

बचपन से ही 'कुमार' जी कविता लिखते थे। १७ वर्ष की अल्पव में आपकी 'देश सेवा' कविता पर ४१) का खन्ना पुरस्कार मिला था। तब से अब तक आपकी 'अभिशाप', 'अंजलि', 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'चित्तौड़ की चिता', 'चन्द्रकिरण' आदि अनेक कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'चित्ररेखा' पर आपको २०००) रुपये का देव-पुरस्कार तथा 'चन्द्रकिरण' पर चक्रधर पुरस्कार मिल चुका है।

रामकुमार जी एक प्रतिभाशाली कवि ही नहीं उच्चकोटि के समीक्षक व्याख्याता तथा एकांकी नाटककार भी हैं। 'साहित्य समालोचना' 'कबीर का रहस्यवाद' तथा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आपके आलोचना ग्रन्थ हैं।

रामकुमार जी की कविता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्रकृति की छवि के चित्रण में उन्हें वास्तव में सफलता मिली है। उनकी कल्पना में उनका चिन्तक रूप भी अतीव मृदुल रूप में झलकता है। पर जहाँ अनुभूति के स्पर्श से क्रीड़ा कौतुक और आत्मिक मिलन की ओर वह गतिशील हुई है, वहाँ जीवन के अक्षय आनन्द को उन्होंने पूर्णरूप से मूर्तित बना दिया है। परिष्कृत शृंगार रस का यह कवि हमारे यहाँ जीवन के अक्षय तथ्यों का अनन्य चित्रकार है।

असीम की स्मृति

एक दीपक-किरण-कण हूँ।

धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं।
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी साधना का ज्वलित क्षण हूँ। एक०
व्योम के उर में अगाध भरा हुआ है जो अँधेरा,
और जिसने विश्व को दो चार क्या, सौ बार घेरा।
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ।। एक०
शलभ को अमरत्व देकर, प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का सन्देश लेकर, रात्रि के उर में समाया।
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।। एक०

शुजा

मौन राशि जो अराकान

अथ-हीन और इति-हीन मौन, यह मन है, तन भी यदि मौन,
निर्जनता की बहुमुखी धार, अविदित गति से वही मौन।

यह मौन! विश्व का व्यथित ताप मुझ में क्यों करता है निवास?
क्या व्योम देखकर! अरे व्योम के तारों का है मुक्त हास!
ये शिला-खंड काले, कठोर, वर्षा के मेघों से कुरूप!
दानव से बैठे खड़े या कि अपनी भीषणता में अनूप!

ये शिला-खंड मानों अनेक पापों के फैले हैं समूह!
या नीरवता से चिर-निवास के लिए रचा है एक व्यूह!
वह सर्प—मृत्यु रेखा सजीव—खिंचता चलता है दिशा हीन!
विष मौन कर रहा है प्रवास, ले एक वक्र वाहन मलीन!

दो भागों में जिह्वा प्रवाह, चंचल है सुख-दुख के समान;
तजता समीर फुफकार—आह, यह देख मृत्यु का सगति यान!
ओ अराकान! यह विषम भूमि, भय भी जिसका है द्वारपाल,
शिशुपन यौवन से है अजान, जर्जरपन ही था जन्मकाल!

सुख-सदृश न्यून हैं लव प्रसून, दुख के समान है कुश अपार।
दोनों का अनुचित विवश योग, है जीवन की अज्ञात हार!
क्या हार! आह, वह शुजा वीर, संग्राम भूमि में गया हार?
वह वही शुजा है, जो सदैव वैभव का था जीवित विहार!

यह वही शुजा है, एक बार, जिससे सज्जित थे राज-द्वार!
अब हार (विजय की पतित राशि)-लज्जित करती है बार-बार!
जीवन के दिन क्या हैं अनेक? वृद्धा के शिर के श्याम केश?
जर्जरपन ही है, मुक्तद्वार, जिसके सम्मुख है मृत्यु देश?

यह वैभव का उज्ज्वल शरीर, दो दिन करता है अट्टहास,
फिर देख स्वयं निज विकृत वेश लज्जित ही करता है प्रवास!
वह शुजा! आह, फिर वही नाम—मचले बालक सा बार बार
सोई स्मृति पर लघु हाथ मार, क्यों जगा रहा है इस प्रकार?
वह शाहजहाँ का राज्यकाल, मानों हिमकर का रजत हास।
लक्ष्मी का था इस्लाम रूप! स्वर्गों का था भू पर निवास!

वे दिन क्यों थे ! यौवन-विलास सन्ध्या बादल सा था नवीन ?
यह रास-रंग—वह रासरंग—यौवन था यौवन में विलीन ?
घन भूल गया था व्यक्तिभेद उसकी गति का था हुआ नाश;
था स्वर्ण-रजत का एक मूल्य, रत्नों में पीड़ित था प्रकाश।

रमणी के कंठों पर स-रत्न, सोया करता था बाहु-पाश।
उच्छृंखलता भी थी प्रमत्त चिन्ता जीवन से थी हताश।
शासित के जो हलके सदैव थे, शासक पर था राज्य-भार।
उसकी जागृति से सभी काल निद्रित रहता था दुराचार।

उस दिन केवल था विनोद, जब नीली यमुना के समीप;
संचित था उत्सुक जन-समूह बुझते जाते थे नभ-प्रदीप।
काले बादल-से दो प्रमत्त, हाथी लड़ते थे बार-बार।
विद्युत-सा उद्धत चपल शब्द सूचित कर देता था प्रहार।

अपनी आँखों में भरे हर्ष—उत्सुकता की चंचल हिलोर;
नृप शाहजहाँ रवि-रश्मि युक्त, हो देख रहा था उसी ओर।
सम्मुख थे उसके राजपुत्र, चंचल घोड़ों पर थे सवार;
आश्चर्य उमंगों का सदैव—दृग में बढ़ता था तीव्र ज्वार।

औरंगजेब की ओर एक गज दौड़ा बन साकार क्रोध;
पर थी उसकी तलवार तीव्र, करनेवाली चंचल विरोध!
जीवन का अब अस्थिर प्रवाह, दो क्षण तक ही था रहा शेष;
पर वाह, शुजा रे शुजा वीर, तेरी चंचलता थी विशेष;

तूने विद्युत बनकर सवेग, विद्युततर का भाला विशाल;
जब मृत्यु रूप गज के सरौद्र, मस्तक पर छोड़ा था कराल।
गज घूमा, तू औरंगजेब को बचा, हो गया अमर वीर !
मैं तुझे खोजता हूँ अलक्ष्य अब अराकान में हो अधीर!

था शाहजहाँ बीमार, और दारा बैठा था नमित माथ,
जिन पर आश्रित था राज्य-भार, वे काँप रहे थे आज हाथ।

दरबार हो गया नियमहीन, प्रातः दर्शन भी था न आह;
रवि शाहजहाँ से शून्य हुआ प्रतिदिन प्राची-सी ख्वाबगाह।
गत तीस वर्ष का राज्य-काल, विस्तृत था स्वप्नों के समान;
जिनमें निद्रित था वन प्रशांत इस जीवन का अस्तित्व ज्ञान।

'शाही बुलन्द इकबाल' युक्त, दारा का शासन था सहास;
पर शाहजहाँ का मृत्यु कष्ट, करता मुख से मुख पर प्रवास।
चिंता निर्मित नत व्यथित शीश झुकते थे दिन में अयुत बार।
मृदु वायु सह रही थी अनन्त, आगाओं के अभिराम भार।

जिस तन पर मणियों का प्रकाश, अपना जीवन करता व्यतीत;
अब वह तन है कितना मलीन! कितना निष्ठुर है यह अतीत।
जब शाहजहाँ ने एक बार, सोचा जीवन का निकट अन्त;
दृग से दो आँसू गिरे और उनमें आकांक्षा थी अनन्त।

ये जीवन के दो दिवस शेष, जिनमें होगी स्मृतियाँ अतीत,
प्रिय ताजमहल के पास क्यों न हो प्रेयसि चिंतन में व्यतीत?
कुछ दूर आगरे में अनूप, संचित है स्मृति का अश्रु बिन्दु,
वह ताज-वेदना की विभूति—अंकित है भू पर वर्ण इन्दु;

यह शाहजहाँ के एक व्यक्ति, जिसने इतना तो किया काम;
दे दिया विरह का एक रूप, है 'ताज' उसी का व्यथित नाम।
पर है प्रेयसि की स्मृति पवित्र कितनी कोमल! कितनी अनूप।
फिर शाहजहाँ ने बन कठोर, क्यों किया उसे पाषाण रूप!

यदि फूलों से निर्मित अम्लान, यह ताजमहल होता सहास;
तब तो स्मृति का था उचित चिह्न मैं क्यों रहता इतना उदास?
तारों की चितवन के समान, था शाहजहाँ अपलक अधीर;
यमुना की लहरों से समोद, क्रीड़ा करता था मृदु समीर।
कितने भावों को कर विलीन, छोटे से दृग के बीच आज;
दिल्ली का स्वामी बन मलीन था देख रहा निस्तब्ध ताज।

वह ताज देखकर उसे हाय, उठता था दृग में विकल नीर।
मुमताज ! कहाँ पाषाण भार, है कहाँ तुम्हारा मृदु शरीर !
है कहाँ तुम्हारी मदिर दृष्टि, जिसमें निमग्न था अधर-पान ?
अधरों में संचित था अनूप, इक्षुज-सा कोमल मधुर गान।

था मधुर गान ! अः वह मुराद औरंगजेब के सहित आज—
है शुजा—शुजा भी स-ओज, सजने को भीषण युद्ध-साज।
दिल्ली का सिंहासन विशाल, है आज युद्ध का पुरस्कार;
जीवन होगा जय का स्वरूप, क्या मृत्यु रूप होगी न हार ?

नृप शाहजहाँ की हीन शक्ति, बन गई सुतों का बल अपार,
दारा, मुराद, औरंगजेब ये मानों जीवित अहंकार !
सतलज की लहरें हुई क्षुब्ध जब उठा भयंकर युद्धनाद;
प्रतिबिंबित था जल में अनन्त सेना समूह—भीषण विषाद।

दारा का वैभवपूर्ण युद्ध, वृद्धा जीवन-सा था अशक्त,
धन का सेवक भी युद्धवाद्य, बह गया स्वर्ण के साथ रक्त !
वह दिल्ली से लाहौर, और मुल्तान सिन्धु से गया कच्छ;
कलुषित-सा होने लगा नित्य उसकी जय का आकार स्वच्छ।

दादर में दारा की विभूति का द्रुत आँसू में था प्रवाह;
नादिरा हृदय-संगिनी आज थी मृत्युसंगिनी आह ! आह !
दारा के उस पर अश्रु और मोती बिखरे थे बन अधीर !
सिसकियों भरे चुम्बन-समेत था मृतक नादिरा का शरीर।

बन्दी था अब वह राजपुत्र, भिक्षुक-स्वरूप हो गया ईश।
क्षण-एक हुआ चीत्कार रुद्ध, फिर गिरा रक्त से सना शीश।
वह शीश देख औरंगजेब—हँसकर रोया था बहुत देर।
मानों निर्दयता ने स-मूल थोड़ी-सी करुणा दी बिखेर।

भोला मुराद—(मदिरा प्रवीण)—सोया था होकर शस्त्र-हीन।
चरणों की अलसाई अनूप, थी दबा रही बाँदी नवीन;

उस समय दुष्ट औरंगजेब ने भेजा था क्यों शेख मीर?
जिससे सहायता-हीन सुप्त भाई का बन्दी हो शरीर!
अः शुजा! और तुम! कहो वीर! बंगाल तुम्हारा था प्रवास
सुख का दिन—सुख की रात शान्त, यह सत्रह वर्षों का निवास!

उस राजमहल की शान्त वायु पा शाहजहाँ का समाचार;
निर्बल रोगी सी हुई क्षुब्ध, आकांक्षा का हिल उठा तार।
तू बढ़ा हाथ, में ले सगर्व, शासन का गौरवपूर्ण भार।
तेरा गौरव था एक चित्र, तेरा साहस था चित्रकार।

थी शत्रुवाहिनी अति प्रमत, तू विमुख हुआ था बार-बार।
मानों दृग तट पर शक्तिहीन लहरों का था असफल प्रहार।
औरंगजेब से हुआ युद्ध, जिसमें थी गज सेना अपार;
विजयी बनकर फिर गई वार, तुझको क्यों स्वीकार हुई हार?

ढाका से भागा अराकान, खोकर अपना विजयी स्वभाव;
कितनी नदियाँ की शीघ्र पार, आशाओं ही की बना नाव।
गौरव रक्षण के हेतु वीर! तूने अपनाया वन प्रदेश।
रक्षित हैं क्या अब भी महान् तेरा यह विक्रम वीर वेश!

तेरे वैभव का मृदु विलास, इस अराकान से था अपार;
इसके पर्वत से भी महान् तेरे सुख का था मधुर भार।
इसमें विभीषिका भी सदैव, रहती है होकर सभीत!
तेरे समीप मुस्कान मंजु, अधरों में होती थी व्यतीत।

तरु तोड़ तोड़कर यहाँ नित्य, झंझा करता है अट्टहास।
तेरे शरीर में नव सुगंधि, लिपटी-सी करती थी निवास।
ले अपने वैभव का शरीर, आया है तू इस भाँति श्रान्त,
एकान्त भूमि में इस प्रकार, तू ही है उजड़ा एक प्रान्त!
ओ अराकान के शून्य प्रान्त! तेरे विशाल तन में प्रशान्त,
वह शुजा हृदय की भाँति आज, क्या धड़क रहा है वन अशांत?

श्री भगवतीचरण वर्मा

जन्म—संवत् १९६० विक्रमी; जन्म-भूमि—शफीपुर, जिला, उन्नाव।

आप बी० ए०, एल-एल० बी० हैं और कुछ दिनों तक वकालत भी कर चुके हैं। कुछ समय पहले आप कलकत्ता में रहते थे और वहाँ से 'विचार' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकालते थे।

एक प्रतिभाशाली कवि होने के सिवा भगवतीचरण जी एक सफल उपन्यासकार, कहानी लेखक तथा एकांकी नाटककार भी हैं; 'इन्स्टालमेंट' कहानी-संग्रह है; 'पतन' 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' तथा 'भूले बिसरे चित्र' आदि आपके उपन्यास और 'मधु-कण', 'मानव', तथा 'प्रेम-संगीत' आपके काव्य ग्रंथ हैं।

भगवतीचरण जी प्रगतिशील कवि हैं। मानव-जीवन और इस अखिल सृष्टि से, जो वैषम्य देख पड़ता है, उसके और हमारे पल-प्रतिपल के राग-विराग में, घोर निराशा के साथ कभी-कभी आशा की जो शुभ्र किरणें झलक पड़ा करती हैं, उसकी क्षण-भंगुरता के वर्मा जी एक कुशल चित्रकार हैं। 'नवीन' जी विप्लव के आह्वान के कवि हैं, उसके सूत्रपात के स्वप्नदर्शी। किन्तु भगवतीचरण वर्मा उस विप्लव के ताण्डव को जीवन में ही देखते हैं। प्रारम्भ से ही यथार्थवादी रहे हैं और इस क्षेत्र में वे सबसे पहले कवि हैं।

स्मृतिकण

क्या जाग रही होगी तुम भी?
निष्ठुर-सी आधी रात प्रिये! अपना यह व्यापक अन्धकार,
मेरे सूने-से मानस में बरबस भर देती बार-बार;
मेरी पीड़ाएँ एक-एक हैं बदल रहीं करवटें विकल;
किस आशंका की विसुध आह इन सपनों को कर गयी पार?
मैं बेचैनी में तड़प रहा, क्या जाग रही होगी तुम भी?

अपने सुख-दुख से पीड़ित जग निश्चिन्त पड़ा है शयित शांत,
मैं अपने सुख-दुख को तुममें हूँ ढूंढ़ रहा विक्षिप्त भ्रांत,
यदि एक साँस बन उड़ सकता यदि हो सकता वैसा अदृश्य—
यदि सुमुखि! तुम्हारे सिरहाने मैं आ सकता आकुल अशांत,
पर नहीं बँधा सीमाओं से मैं सिसक रहा हूँ मौन विवश,
मैं पूछ रहा हूँ बस इतना भरकर नयनों से सजल याद—
क्या जाग रही होगी तुम भी?

कसक कहानी

इस दुख में पाओगी सुख की धुँधली एक निशानी;
आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी।
रो-रो देते मूर्ख यहाँ पर, हँस-हँस देते ज्ञानी।
अरी दिवानी! सोच-समझकर सुनना कसक-कहानी;
यहाँ कल्पना का संचार—'छाया' है जिसका आधार।
मनसिज, मलय, मधुप, मधुमास, कमल, कुंज, उल्लास विकास,
नवल उमंगों का उपहास जीवन की सुषमा का सार—
वह बह गया पलक में बन अपलक नयनों का पानी?
स्मति ही शेष रह गई, गई विस्मृति की अब एक निशानी,
माया के फंदे में पड़कर नाच रहा था ज्ञानी,
अरी दिवानी! बस इतनी सी मेरी कसक कहानी॥१॥

मानस की प्रमुदित लहरें थीं, थी प्रातः की बेला।
खेल रहा था मचल-मचल कर पागल हृदय अकेला।
यहाँ हलाहल था, हाला थी, था प्यालों का मेला,
जीवन का मतवालापन था, जनरव का था रेला,
मुसकाता था अरुण प्रभात और हँस रहा था जल-पात,
किन्तु लोप हो गया विलास, रुदन बन गया सहसा हास,

घिर आयी अँधियाली रात, उमड़ पड़े लो सागर सात ?
थी प्रातः की अरुण उषा में अंधकार की रेखा।
काल-चक्र के महाप्रलय में, बस इतना ही देखा ?
नत मस्तक सगर्व चलते थे, झुकते थे अभिमानी।
अरी दिवानी ! विश्व-व्याप्त है मेरी कसक कहानी ।।२।।

कुछ रोते थे—जग सपना है अपनापन ही छल है।
कुछ हँसते थे—जीवन सुख है, दुख ही भ्रांति प्रबल है।
काल-चक्र है सबल और यह विकल हृदय चंचल है—
इन दोनों में भ्रमता रहता, यह ममत्व पागल है।
कभी उमंग, कभी निःश्वास, संशय कभी, कभी विश्वास
आज पुण्य है कल है पाप—भ्रम ही है भ्रम का अभिशाप ?

एक दूसरे का है त्रास उनका रुदन हमारा हास !
जो न शांत हो सके, हृदय का, यह कैसी हलचल है।
कुछ थोड़े-से क्षण, जीवन की अवधि आज है कल है,
किन्तु यहाँ उठता रहता है प्रतिपल आगी-पानी।
अरी दिवानी ! एक पहेली है यह सब कसक-कहानी ।।३।।

यहाँ प्रकृति है, पाप, पुण्य आत्मा का पूर्ण दमन है,
स्वेच्छा है भ्रम-पाश यहाँ पर, मुक्त नियम-बन्धन है
यहाँ पूज्य अज्ञान, उपेक्षित तर्क तथा दर्शन है,
अंधकार ही अंधकार यह छोटा-सा जीवन है।
जो अनुकूल, वही प्रतिकूल—उनका फूल हमारा शूल,
अरे व्यर्थ है सकल प्रयास—जो कुछ है, वह है विश्वास।
व्यर्थ भावना यह निर्मूल, संशय है जीवन की भूल।

यहाँ रंग है व्यंग साधना शुष्क यहाँ पावन है,
अपनों ही के लिए यहाँ पर दूषित अपनापन है।

यहाँ अन्धविश्वास धर्म की सुन्दर एक निशानी;
अरी दिवानी! एक व्यंग्य है मेरी कसक कहानी ॥४॥
यहाँ मिलेगी आग, यही पर तुम्हें मिलेगा पानी।
अरे मिलेगी, स्वर्ग नरक की तुमको यही निशानी।
इतना रखना याद, यद्यपि है बीती बात पुरानी—
"रह जाते हैं मूर्ख यहाँ पर बह जाते हैं ज्ञानी।"

अरुण अधर का सुमधुर ह्रास—नवयौवन का विकृत विलास;
एक व्यंग था, व्यंग अजान! था पतंग का स्वप्न महान।
दुख का उजड़ा हुआ प्रवास, इस जीवन का उपहास।

यहाँ सदा नीचे-ही-नीचे रुकता अरी दिवानी।
बच न सका इस कोलाहल में कोई भी अभिमानी।
अपनी-अपनी सब कहते हैं, सुनता कौन बिरानी।
अरी दिवानी! सोच-समझकर सुनना कसक कहानी ॥५॥

श्री इलाचन्द्र जोशी

जन्म—सवत् १९५९ विक्रमी : जन्मस्थान—अल्मोड़ा

आपके पूर्वज कुमाऊँ राज्य के दीवान थे। आपके जन्मकाल के समय वह पूर्ण वैभव तो न रह गया था, तो भी अधिक दृष्टि से आपके पिता-पितामह की स्थिति मध्यवित्त थी। हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त करके इन्होंने अध्ययन करना छोड़ दिया। तदनन्तर आपने कला, साहित्य और विज्ञान का बहुत मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक आप आकाशवाणी की सेवा में भी रहे। सन् १९२९ में आपका 'घृणामयी' उपन्यास प्रकाशित हुआ। तदनन्तर आपके 'पर्दे की रानी', 'निर्वासिता', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। आपके काव्य-संग्रह का नाम 'विजनवती' है। आपके निबंध

संग्रहों में 'साहित्य सर्जना, 'विवेचना' तथा 'विश्लेषण' काफी प्रसिद्ध हैं।

जोशी जी कवि ही नहीं, एक सफल कहानीकार उपन्यास-लेखक तथा निबन्धकार भी हैं। पिछले तीस वर्षों से उनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की गौरव-वृद्धि कर रही हैं।

जोशी जी यथार्थवादी साहित्यकार हैं। अनुभूति से उनकी कल्पनाएँ सख्य भाव रखती हैं। उनके कवि रूप में यथार्थवाद पद-पद पर झलकता है। जीवन की समस्त सुकुमारता, दृष्टि के दारुण, कशाघात से, जैसे-जसे रोती, कलपती और विलाप करती है, इस कवि का हृदय पूर्ण सजगता के साथ अपनी आँखें खोलकर उसे देखता है। जैसे सभी कुछ उसकी आँखें देख लेने की शक्ति रखती है। तभी भावातुर होकर जब यह उसका चित्रां-कर करते हैं, तो कुछ छोड़ते नहीं। भयानक और वीभत्स मदुल और मधुर उसकी तूलिका का केवल एक प्रयोग है। प्रकृति की रागात्मक वृत्तियों और जीवन के यथार्थ का द्रष्टा यह कवि हमारे यहाँ आत्मानु-भूतियों का चित्रकार है।

मायावती

मैं रोती हूँ, मैं निशिदिन पल-छिन रोती,
मेरी आँखों से बिखरे पड़ते मोती।
मेरे आँसू हैं पद्म-पत्र में कम्पित,
कानन है मेरे अश्रु ओस से सिंचित।
मम क्रन्दन से तारे हैं नभ से पुंजित,
मैं नयन नीर से निखिल प्रकृति को धोती।
मैं तरल अश्रु से निशि-दिन अविरल रोती।।१।।

मुझको पावस की घन घन घटा लाती;
वन सजल उसास कहाँ से है नित लाती।

व्याकुल करती है निज मुझको घन-धारा,
रोती हूँ देख नदी का यौवन न्यारा।
उमड़ पड़ता है आँसू का फव्वारा,
अविदित विषाद से भर जाती है छाती।
मुझको पावस की घन घन-घटा लाती॥२॥

मैं देख शरत् की शांत नीलिमा रोती,
मैं देख विजय की छवि नित व्याकुल होती।
करती है मुझको विकल आँसुरी क्रन्दित,
संध्या मानस में करती आह तरंगित,
मैं विह्वल वीणा-सी हो करुणा झंकृत।
नित-नित नूतन सुमनों में अश्रु सँजोती।
मैं देख शरत की शांत नीलिमा रोती॥३॥

मैं हँसती हूँ, मैं नित पगली-सी हँसती
मेरे मुख से फूलों की झड़ी बरसती।
पुलकित प्रभात-सी रहती हूँ नित विधुरा
उत्फुल्ल कुसुम सी रहती हूँ मधु-मधुरा
नव अरुण राग-सी हूँ, मैं मादक-अधरा
मम हास देख हिम-वाला नित्य तरसती,
मैं हँसती हूँ, मैं नित पगली-सी हँसती॥४॥

हूँ शरच्चन्द्र-सी उजियाली मैं बाला,
हँसकर नित करती हूँ त्रिभुवन-उजियाला।
द्युति-दीप्त-दामिनी से मम हास दमकता,
अति प्रखर सूर्य-कर से वह नित्य चमकता
इसमें झलमल संध्या का स्वर्ण झलकता
अरुणोदय ने भी इसमें है रंग डाला।
हूँ शरतचन्द्र-सी उजियाली मैं वाला॥५॥

मैं रोती हूँ, हँसती हूँ हो मतवाली,
है सजल नयन में छाई कांति निराली।
निर्झर-सीकर में मम क्रन्दन फुहराता,
रवि-किरणों में मम हास सदा लहराता,
संध्या-सागर में अश्रुवेग गहराता,
ऊषा में सजनी हास-कुसुम की डाली।
मैं रोती हूँ, हंसती हूँ हो मतवाली ॥६॥

मैं हूँ गम्भीरा, हूँ रसवती नवेली,
मैं हूँ कुहेलिका-सम अति कुटिल पहेली,
मैं विजन वास में रहती हूँ अति रुदिता,
मैं राग-रंग में हो जाती हूँ मुदिता,
हूँ संध्या-सम निलया प्रभात सम उदिता,
रजनी की सजनी, सविता की अलबेली,
मैं हूँ गम्भीरा हूँ रसवती नवेली ॥७॥

मैं महामहिम हूँ, भुवन-मोहिनी माया,
निज अश्रु-हास से निखिल जगत् विरमाया,
है इन्द्र-धनुष मेरी माया से अंकित—
मम नयन वाष्प से होकर नभ में व्यंजित,
मम तरल हास से होता है वह रंजित,
है घूर हँसाती मुझे, रुलाती छाया।
मैं महामहिम हूँ भुवन-मोहिनी माया ॥८॥

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

जन्म—संवत्—१९६४ विक्रमी; जन्मस्थान—मुरार (ग्वालियर)। 'मलिन्द' जी का शिक्षा-क्षेत्र मुरार हाईस्कूल, अकोला—तिलक राष्ट्रीय

स्कूल तथा काशी विद्यापीठ रहा है। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी तथा बँगला आदि भाषाओं का आपको अच्छा ज्ञान है। सन् १९२२ ई० से आपकी रचनाएँ बराबर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। लाहौर की 'भारती' पत्रिका के आप सम्पादक रह चुके हैं। 'जीवन-संगीत' नामक आपका एक सुन्दर काव्य प्रकाशित हुआ है। आप बोलपुर के शांति-निकेतन में हिन्दी अध्यापक रह चुके हैं। यशस्वी कवि होने के सिवा आप एक सफल नाटककार भी हैं। आपके 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक ने अच्छा मान पाया है।

'मिलिन्द' जी भावुक कवि हैं। उनकी कल्पनाएँ बड़ी मर्मस्पर्शी होती हैं। गाँधीवाद का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। जीवन की सात्विक उत्सर्ग और साधना से पूर्ण वृत्तियों के ऊहापोह का दर्शन आपकी रचनाओं का क्षेत्र है। जान पड़ता है, विश्व के स्वरूप का सौन्दर्य देखने में यह कवि आत्म-विभोर हो गया है। प्रकृति के अंचल पर बैठकर उसका मिलिन्द रूप जहाँ रहस्यवादी हो उठा है, वहाँ उसने जीवन के मर्म की वास्तव मे सुन्दर व्याख्या की है।

पछतावा

मेरे उर का कल्मष होता उस सूने पथ का रज कण,
सारा अहंकार जग का बह जाता जिसमें दृग-जल बन;
मेरे नयनों का प्रकाश उस कुटिया का दीपक होता,
जिसमें वैभव निर्धनता के चरण अश्रु बन कर धोता।
मेरे श्रवणों की उत्कंठा होती वह आशा-संदेश,
जिससे बुझता हृदय किसी का फिर पाता नव ज्योति विशेष,
मेरे उर का स्नेह सरसता होती उनसे जीवन की;
जिस निर्धन का हृदय पार कर जाता हाट' प्रलोभन की!
मेरे कर की तत्परता उस नौका की होती पतवार।
जिसे नये नाविक का साहस भँवरों से लेता मझधार,

मेरे निश्चय की सब दृढ़ता होती वह निविड़ालिंगन,
जिसमें व्यथित, मथित, पीड़ित, फिर पाते खोया अपनापन,
मेरी कर्कशता होती उस रण में तरुणों की हुंकार,
जिसमें दलित मनुजता उठती पशुबल का करने प्रतिकार,
मेरा जीवन जग जीवन के कण-कण में वितरित होता,
मेरा 'सब कुछ' हाय न होता यदि मेरा, तो हित होता।

विश्व-सुन्दरी

खिल उठता है हृदय गगन का जल, थल, अनिल, अनल, कण-कण का
खिलती है जब इन अधरों पर ऊषा-सी मुसकान।
जग के श्रांत पथिक, बन मधुकर ले जाते मधु रुककर पल भर,
दशों दिशाएँ शतदल-सी खिल, करने लगती दान,
खिलती है जब इन अधरों पर ऊषा-सी मुसकान।

सकल कामना लय होती है, चतुर चेतना भी सोती है,
इन नयनों में भर ढलकाती हो जब मद की धार।
अँगड़ाई लेता है यौवन, मुँद जाते सुख-दुख के लोचन,
आह! झूम उठता है प्रतिक्षण पागल-सा संसार।
इन नयनों में भर ढलकाती हो जब मद की धार।
सर के लहराते जीवन-सा, जब स्वर लहरी के कम्पन-सा,
लहराता है मलयानिल में इस अंचल का छोर।
पाते ही असीम आह्वान लहरा देता है अनजान,
प्राची और प्रतीची के प्राणों से एक हिलोर।
खग करते कलरव अम्बर में, लहरें उठती हैं सागर में,
भर देती हो अखिल शून्य को जब गाकर यह गान;
वेदना बनती बिकल विहाग, मीन संध्या का धीमा राग,

जड़ जग के होते हैं चेतन तानतान पर प्राण।
भर देती हो अखिल शून्य को जब गाकर यह गान।

पुलकित होते हैं नन्दन-वन थिरक-थिरक उठते हैं उडुगण
अपनी तानों की गति पर जब हम करने लगतीं नर्तन,

सुनकर नूपुर की झंकार, खुलते रवि शशि के द्वार,
इन चरणों के ताल-ताल पर त्रिभुवन में होता कम्पन,
अपनी ही तानों की गति पर जब तुम करने लगती नर्तन।

श्री उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकर भट्ट का जन्म सन् १८९८ में इटावा में हुआ। जाति के ये गजराती ब्राह्मण थे। आप आकाशवाणी, दिल्ली से भी संबद्ध रह चुके हैं। स्वभाव के बड़े सरल, सहृदय और गंभीर थे। 'मत्स्यगंधा' कौरववंश की राजमाता—सत्यवती—के जीवन पर लिखी भट्ट जी की एक नाटिका है। अन्त्यानुप्रास-हीन इस काव्य में भावधारा का जैसा अगाध वेग है, वह प्राणों को स्पंदित करनेवाला वैसा ही मोहक संगीत भी है। इस काव्य में भट्ट जी अमर कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के रूप में बोलते जान पड़ते हैं। 'सागर विजय' (नाटक) में भी उन्हें बड़ी सफलता मिली है।

भट्ट जी की कविता में जीवन-रहस्य के अनुसंधान की एक सतत चेष्टा हमें मिलती है। 'राका' में आपकी बड़ी मर्मस्पर्शी कविताएँ हैं।

नाटकों में भी उनके कवि रूप की प्रतिभा सर्वाधिक विकसित हुई है। इधर कुछ वर्षों से बराबर एकांकी नाटक लिख रहे हैं और उनमें निःसन्देह आपको बड़ी सफलता मिली है।

आपके 'मानसी', 'युगदीप' एवं 'यथार्थ कल्पना' नामक तीन काव्यग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। ये कृतियाँ आशावाद के शुभ संदेश से ओत-प्रोत हैं।

जीवन के प्रति कवि का जो अपना दृष्टिकोण रहता है, उसका इनमें कुछ सुन्दर विकास हुआ है।

२८ फरवरी, सन् १९६६ को भट्टजी का दिल्ली में निधन हो गया।

हाहाकार

सब फूट चले अरमान फफोले बनकर,
हँस पड़ी हूक अनजान आह से छनकर।

कुछ क्षण आये जीवन में सुख के सपने,
कुछ उनके स्मय से हँसे और कुछ अपने।

अलि मृगमद का जल पिये मेघ की आँखें;
फैली बरसाकर टूटे दिल की फाँकें।

उन झपकों में जीवन में पाई लाली,
नाची पलकों में प्राची दे-दे ताली।

स्मृतियाँ इठलातीं जिन्हें याद कर मेरी,
उनमें फूटी हो, विस्मृतियाँ बहुतेरी

मैं देख न पाई तनिक शरद्-उजियाली,
भर गई अचानक आँखों में अँधियाली।

इन उच्छ्वासों में बहा हृदय कन-कन कर,
अलि, फूट गए अरमान फफोले बनकर।

जीवन प्रश्न

जीवन क्या जग में झाँकी है, झंकार कौन वीणा की है?
है चमक मेघ में बिजली की, यह फुदकन किस तितली की है?
उड़ता पतंग-सा जीवन है, जिसमें उमंगवाला मन है।
यह ठुमके रह रह आते हैं, सुख-दुःख बन छिपते आते हैं।
डोरी यह किसके है कर में, जो उड़ा रही दुनिया भर में?

यह उलझन कैसी बाँकी है, जीवन क्या जग में झाँकी है?
किसने आते देखा इसको? किसने जाते देखा इसको?
साँसों के घर में सोता है, खुद हँसता है खुद रोता है।
यह किनकी किसी हवा की है जो मिट्टी में छिप झाँकी है।
छाया यह दीप-शिखा की है, झंकार किसी वीणा की है।
बुलबुले हवा के पानी पर, जो नाच रहे मनमानी कर।
हा हन्त उसी के झोंके से सब फूट गये भर होले से।
यह भी अजीब-सी उलझन है, सब हारे खोज महाजन है।
दो शीशों की प्रतिच्छाया में, झलकता है ईश्वर माया में।
यह जीवन ताका-झाँकी है, है मौत जहाँ नाचा की है।
जीवन यह किसकी झाँकी है, झंकार उसी वीणा की है।

श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' का जन्म रामपुर डीहा, जिला भागलपुर (बिहार) में सन् १९०४ में हुआ। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। आप बिहार के एक विद्यापीठ में मुख्याध्यापक भी रहे।

'द्विज' जी कवि ही नहीं, कथाकार तथा समीक्षक भी हैं। 'अनुभूति' कविता-संग्रह तथा 'किसलय', 'मृदुदल' और 'मालिका' आपके कहानी-संग्रह हैं। फिर भी आपकी कहानियाँ बार-बार हमसे कुछ कह जाती हैं। आपके कहानीकार-रूप की यह बहुत बड़ी सफलता है। हाँ, समीक्षा में आप खुलकर नहीं उतरे हैं। प्रेमचन्द की उपन्यास कला में आप, एक नीर-क्षीर-विवेक समीक्षक के रूप में न आकर केवल प्रशंसक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं।

'द्विज' जी का कवि जीवन अभावों के प्रति कोई उपालम्भ नहीं रखता। असह्य पीड़ा से विकल होकर आह भरना भी उसे स्वीकार नहीं

होता। यह तो अभावों की पूजा करता है। मानों वह यह मानता है कि अभावों ने हमारे जीवन का निर्माण किया है। अपने इस भाव की अभि-व्यंजना में 'द्विज' जी बहुत सफल हुए हैं। मुक्त कल्पना के कवि न होकर आप एक भाव-प्रवण नायक हैं। आपका अपना अलग क्षेत्र है। निर्जन प्रांतर के घने अंधकार में, जब सारी सृष्टि का कोलाहल शान्त हो जाता है, तब यह कवि जीवन और जगत् की विलक्षणता और मोहकता से प्रभावित होकर गा उठता है।

कौन

जग विहित इस सघन विपिन के बीच कौन आ पावेगा?
'तिमिर-लोक' से 'ज्योति-जगत' की ओर मुझे ले जावेगा!
स्मृति चिता में रत, बेसुध हो भूल गया मैं गम अपना!
कौन पकड़ अब पाणि प्यार से फिर उस पर पहुँचावेगा?
बैठ बाट को जोह रहा हूँ इस आकुलता से किसकी?
स्वप्न जगत' से सतत देखता हूँ, छविमय माया किसकी?
नीरवता के मृदुल सेज पर सो जाऊँ?—पर क्या यह देव!
कौन वहाँ आ गया चरण-ध्वनि यह इतनी मीठी किसकी।
पथिक कौन यह पग आहट देकर चट यों छिप जाता है?
किस अतीत का गीत करुण यह कंपित स्वर में गाता है?
मृदुल वेदना-व्यथित प्रणय-पथ के मुझ दीवाने को कौन—
इस निशीथ में खींच विकलता के पथ पर ले जाता है?
जलन-भरी उर-आकुलता में मादकता भरने वाला,
सारभूत सौन्दर्यसृष्टि को सम्मुख ला धरने वाला—
अमर कांति-धर, नंदन-वन के पारिजात-सा है यह कौन—
पथिक निराला अन्तस्तल में घर मेरे करने वाला?
हृदय विकल जाने न इसी की ओर खिचा क्यों जाता है?
है कितना आकर्षण? तन्मय कर देता जब गाता है।

याद दिलाती है इसकी मृदु 'स्वर-लहरी' 'अपने जन' की;
कौन बतावेगा यह मुझको क्यों इस भाँति रिझाता है?
आह बना डाला इसने मुझको इतना आनन्द विभोर,
जान नहीं पाता पावन वह कौन लिये जाता किस ओर?
"मिलन वहीं होगा उनसे" कह ले चलनेवाला यह कौन?
"जहाँ जलधि की विकल तरंगें हँस-हँस छूती अम्बर छोर।"

अभाव की पूजा

जीवन के पहले प्रभात में

मिला तुम्हीं से था मुझको प्रिय, यह पावन उपहार;
जिसे कहते तुम आज अभाव, लिये नयनों में करुणा-नीर;
और करने को जिसका अन्त—(व्यथित हो होकर परम अधीर)
रहे हो मेरे चारों ओर, विभव की दारुण ज्योति पसार।
ज्योति यह दारुण है, हाँ देव क्योंकि मैं हूँ चिर तम का दास;
सुखी रहता दुख ही में डूब, कहाँ जाऊँ किस सुख के पास?
सँभाले सँभलेगा भी कभी, किसी का मुझसे इतना प्यार।
वासना में विष है, है आग, लालसा में, सुख में संताप।
पुण्य पा लूँगा मैं किस भाँति! कहाँ जायेगा मेरा पाप?
विश्व की पीड़ाओं को कहाँ मिलेगा प्रश्रय मधुर दुलार?
विरति-पथ है कोलाहल-हीन, उसी पर चलने दो चपचाप।
साथ में दुर्बलताएँ रहें प्रलोभन का न मिले अभिशाप।
बहुत सुन्दर लगता है मुझे—यही मेरा सूना संसार।
जन्म भर तप करने के बाद, मिला है मुझको वही 'अभाव'।
इसी में है मेरा सर्वस्व, न है कुछ पीने का अब चाव।
बिछाकर मोहक माया-जाल साधना का न करो संहार।
लिये जो हलचल अपने साथ, पधारे हो तुम मेरे पास—

उसे दे पाऊँगा किस भाँति उसी छोटे से घर में बास?
लूट लेंगे मुझको ये लोग, समेटो इनकी भीड़ अपार।
दाह अति शीतल है यह, है न कहीं इसमें ज्वाला का नाम।
बरसने दो करुणा-घन को, न है उसका अब कोई काम।
जला, जल चुका बहुत चुपचाप, पड़ा हूँ अब तो बनकर छार;
विकल विह्वल थी जब मधु-धार, किया प्यासे अधरों से मान;
पुनः उस मादकता की ओर करो उपक्रम ले जाने का न!
ढुलक जाऊँगा हो हत चेत, रहे रस क्यों बरबस यों ढार?
जगाओ अब न हिये की भूख, भड़काओ चाहों की प्यास!
इसी सूनेपन में है शान्ति, तृप्ति, संयम औ हर्ष हुलास।
कहाँ अब वे आँखें हैं हाय? निहारूँ जिनसे यह श्रृंगार?
करो विचलित मत मुझको देव! दिखाकर कुछ देने की चाव।
साधना की वेदी पर बैठ, पूजने दो यह अमर 'अभाव'।
इसीमें ही तुम, हूँ मैं और इसी में भरा तुम्हारा प्यार।

प्रयोगकालीन धारा

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

जन्म—संवत् १९६२; जन्मभूमि—गुना (म० प्र०)

'प्रेमी' जी पुस्तक प्रकाशन का काम करते हैं। लाहौर की 'भारती' के आप संपादक भी रह चुके हैं। अजमेर से निकलने वाली 'त्याग-भूमि' के भी आप सहायक संपादक थे। आप कई वर्षों से कविता लिखते आ रहे हैं। 'आँखों में', 'जादूगरनी' तथा 'अनंत के पथ पर' आपके सुन्दर काव्य हैं। 'अनंत के पथ पर' काव्य में आपको अच्छी सफलता मिली है।

'प्रेमी' जी अपने नामानरूप प्रेम अथवा उसकी मर्मानुभूति के कवि हैं। उनकी कविताओं में निराशा, प्रेम तथा अतृप्त आकांक्षा बहुत सजीवता के साथ व्यक्त हुई है। उनकी भाषा में बड़ा ओज है, भावों में वेग और अगम्य प्रवाह है। उनकी कसक में भी जागरण का ही राग फूटता है। वे प्रतिभाशाली कवि ही नहीं यशस्वी नाटककार भी हैं।

चिनगारी

आज प्रिये जीवन के पथ पर चारों ओर अँधेरा छाया,
घोर घटाओं से घिर नभ के तारों को अनजान छिपाया।
तूफानी लहरों पर अपनी तरुणी डगमग डोल रही है,
सर्वनाश के वाणी सागर के गर्जन में, बोल रही है।
और निकट आओ हम तम में अन्तरतम की गाँठें खोलें,
सखि, अतीत की आँखों में भर खारे पानी से घोलें।।१।।

फूल-शूलमय जीवन पथ पर साथ-साथ तुम आई बाले;
खिसक गये सब साथ निभाने का हरदम भरनेवाले।
आज प्रिये तुम हो या तम है और नहीं है कोई मेरा;
प्रलयंकर लहरों के ऊपर आज हमारा अस्थिर डेरा।
प्रिये तुम्हारी दो आँखें ही जीवन में प्रकाश भरती हैं,
निविड़ निराशा की निशि में, अब आशा संचारित करती हैं।।२।।

संग धैर्य ने छोड़ दिया, पर तुमने मेरा साथ न छोड़ा,
बार-बार टूटी साँसों का तुमने हँस-हँस धागा जोड़ा।
हाथ पकड़कर खड़ा किया फिर रण-सज्जा मे मुझे सजाया,
'कायर ही, प्राण, मृत्यु हैं' बार-बार यह पाठ पढ़ाया।
मरते हुए जिओ मत प्रियतम, जीते हुए भले मर जाओ,
अंतिम क्षण तक विद्रोही रह, नही किसी को शीश झुकाओ।।३।।

"जब से पैदा हुए, न हमने एक घड़ी भी सुख को जाना,
कितना कठिन पेट का खंदक भरने को दाने पाना।
मुट्ठी भर लोगों ने जग का लूट रखा है सभी खजाना;
आज व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है, आज बदलता हमें जमाना।
इस विपरीत भयंकर लहरी में चिंता क्या हम खप जावें।
आनेवाली पीढ़ी को भी यदि साहस का मार्ग दिखावें।।४।।

अब घर-द्वार वही है अपना अब सुख का अरमान नहीं है;
प्राणों में यौवन-मद की अब छिड़ती मादक तान नहीं है।
यदि पथ में मैं बाधक हूँ तो मुझको भी जहर पिला दो;
ओ विद्रोही अपने दिल पर ममता का भी भार न लादो।
निर्मम बनकर आज विषमता के नियमों में आग लगाओ;
पथिक अकेले ही इस पथ पर चिंता, क्या है बढ़ते जाओ।।५।।

प्रिये तुम्हारे प्रोत्साहन ने इस जीवन में आग लगाई,
अपनी छोटी-सी कुटिया थी, हमने उसको धता बताई।
आश्रयहीन बने दुनिया में, आज घूमते हम आवारा।
सतत प्रतीक्षा करता रहता, मुँह खोले शासन का कारा।
प्रिये सत्य का पथ है अपना फिर भी छिपकर रहना पड़ता,
अपनी छोटी-सी हस्ती का काँटा आँखों में है गड़ता।।६।।

आँखों में मदिरा सखि, साँसों में अनन्त मधु-मास छिपाये,
आई थी सौन्दर्यमयी तुम, प्राणों में उद्यान खिलाये।
इस गरीब कवि के प्राणों में आकांक्षा की आग लगाने;
हृदय चाहता, सदा तुम्हें इन नक्षत्रों से साज सजाने,
वसुधा का शृंगार प्रिये! तुम पर यह विश्व-विभव चढ़ जावे,
तुम्हें न उचित आदर दे पाया, मेरा मन सन्तोष न पावे।।७।।

हमने देखा पास हमारे महल खड़े हैं भारी-भारी;
उनके आगे प्रिये दीखती, एक व्यंग्य-सी कुटी हमारी।
जब तक प्रिये अकेला था मैं, मैंने यह वैषम्य न जाना;
बुनता रहता था एकाकी मैं गीतों का ताना-बाना।
उस दिन कुटिया में आकर था तुमने अपना रूप दिखाया;
निर्धनता है पाप उसी दिन यह मैंने अनुभव कर पाया॥८॥

मैंने कहा, तुम्हें इस कवि की कुटिया कैसे पाल सकेगी?
अभिलाषाओं के प्याले में कैसे मदिरा ढाल सकेगी;
महलों की बिजली को कैसे पर्ण-कुटी में भला जलाऊँ।
व्यर्थ अभावों की ज्वाला में क्यों कोमलता को झुलसाऊँ।
तुमने कहा—"शान्त, कवि, मैं तो जानबूझकर आई हूँ;
पागल प्राणों में भीषण-तम, मैं भविष्य भर लाई हूँ"॥९॥

जो सुख की शैय्या पर सोते, मुझको उनसे काम नहीं है;
मुझे उन्हीं से कुछ कहना है, जिन्हें प्राप्त धन-धाम नहीं है।
मुझे उन्हें आँखें देनी हैं, निज अभाव जो देख न पाते,
जो जुल्मों को भाग्य समझकर निर्विकार हो सहते जाते।
मुझे विभव का क्या करना है, मैं तो उसका नाश करूँगी।
आज तुम्हारे प्राणों में मैं सर्वनाश का राग भरूँगी॥१०॥

उस दिन से अब तक हम अपनी नौका लिये जगत में फिरते;
अपने ऊपर सम्राटों के बार-बार गोले हैं गिरते।
हमने जन-जन के मन-मन में रख दी चुपके से चिनगारी;
चिन्ता क्या है आज घिरी जो चारों ओर सघन अँधियारी।
हम मिट जावेंगे, पर अपनी यात्रा सदा रहेगी जारी,
अंतिम गीत, प्रिये गाने को, आओ आज करें तैयारी॥११॥

श्री हरिवंशराय 'बच्चन'

जन्म—मार्गशीर्ष कृष्ण ७, संवत् १९६४ विक्रमी; जन्म स्थान—इलाहाबाद।

आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० किया है। 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा-निमन्त्रण', 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी', 'त्रिभंगिमा' तथा 'दो चट्टानें' आदि आपके काव्य-ग्रंथ हैं।

भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और विलसित भावोन्माद के इस कवि ने बात-की-बात में हिन्दी जगत् में अपना एक समादरणीय स्थान बना लिया है।

'बच्चन' जी कोरे कागज में काली रेखाएँ खींचनेवाले मूक कवि न होकर अपने सरस संगीत के एक मधुर और प्रभावशाली गायक भी हैं। हिन्दी-संसार में इतनी जल्दी किसी कवि ने ख्याति नहीं प्राप्त की है।

'बच्चन' जी का प्रारंभ विलासवाद के कवि-रूप में हुआ और उन्होंने मानव-जीवन की तृष्णा को साकार रूप में व्यक्त किया; किन्तु अपनी अति आधुनिक कृतियों में उन्होंने जीवन को विविध दृष्टियों और कोणों से देखने की चेष्टा की है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो उनका कवि दार्शनिक भी हो गया है। और एक वाक्य में कहूँ तो 'बच्चन' जी आधुनिक हिन्दी-काव्य की आशा हैं।

मधुपान

उर प्यास बुझाने हम आए!
पग पायल की झंकार हुई, पीने की एक पुकार हुई,
बस हम दीवानों की टोली, चल देने को तैयार हुई।
मदिरालय के दरवाजों पर आवाज लगाने हम आए। उर प्यास०

हमने छोड़ी कर की माला, पोथी-पत्रा भू पर डाला।
मन्दिर-मन्दिर के बन्दीगृह को, तोड़ लिया कर में प्याला।
ओ दुनिया को आजादी का, संदेश सुनाने हम आए। उर प्यास०

क्रोधी मोमिन हमसे झगड़ा, पंडित ने हमें मन्त्रों से जकड़ा।
पर हम थे कब रुकनेवाले, जो पथ पकड़ा वह पथ पकड़ा।
पथ-भ्रष्ट जगत् को मस्ती की अब राह बताने हम आए! उर प्यास०

छिपकर सब दिन था जब पीता, पीता अगर न कैसे जीता?
जब हम न समझते थे इसको, वह दिन बीता वह युग बीता।
साकी से मिल मदिरा पीने, अब खुले खजाने हम आए! उर प्यास०

मग में कितने सागर गहरे, कितने नद नाले नीर भरे,
कितने सर निर्झर स्रोत मिले, पर नहीं कहीं पर हम ठहरे!
तेरे लघु प्याले में ही बस अपनत्व डूबाने हम आए। उर प्यास०

है ज्ञात हमें नश्वर जीवन, नश्वर इस जगती का क्षण-क्षण।
है किन्तु अमरता की आशा, करती रहती उर में क्रन्दन।
नश्वरता और अमरता का अब द्वंद्व मिटाने हम आए! उर प्यास०

दूर स्थित स्वर्गों की छाया से विश्व गया है बहलाया;
हम क्यों उन पर विश्वास करें जब देख नहीं कोई पाया?
अब तो इस पृथ्वी तल पर ही सुख-स्वर्ग बसाने हम आए! उर प्यास०

हम लाए हैं केवल हस्ती, ले साकी दे अपनी मस्ती,
जीवन का सौदा खत्म करें, मिल मुक्ति हमें जावें सस्ती।
साकी तेरे मदिरालय को तीर्थ बनाने हम आए! उर प्यास०

चिरजीवी हो साकी बाला! चिर दिवस जिये मधु का प्याला,
जो मस्त हमें करनेवाली, आबाद रहे वह मधुशाला,
इतने दिन जो बदनाम रही, उसका गुण गाने हम आए! उर प्यास०

दी हाथ खुले तूने हाला, हम सबने भी जी भर डाला
यह तो अनबूझ पहेली है, क्या बुझ न सकी अंतर्ज्वाला ?
मदिरालय से पी करके भी, क्यों प्यासे जाने हम आए ! उर प्यास०
कल्पना सुरा और साकी है, पीनेवाला एकाकी है,
यह भेद हमें अब ज्ञात हुआ, क्या और समझना बाकी है ?
जो गाँठ न अब तक सुलझी थी, उसको सुलझाने हम आए। उर प्यास०
यह सपना भी बस दो पल है ! भावुकता के मद का फल है !
सोती मानवता चेत, अरे ! सब धोखा है सारा छल है।
हम बिना पिए भी पछताए, पीकर पछताने हम आए ! उर प्यास०

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का जन्म सं० १९७२ वि० में हुआ। हिन्दी के नवोदित कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी भाषा में बड़ा वेग है, भावनाओं में बड़ी हलचल। जीवन की घनीभूत तन्मयता और उसकी आकांक्षा का ऐसा निखरा और देदीप्यमान स्वरूप हमें नवीनकाल के बहुत कम कवियों में मिलता है। आपके 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'किरण-बेला', 'करील', 'लाल चूनर', 'विराम चिह्न' तथा 'प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

'अंचल' जी एक प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, सफल कहानी-लेखक तथा निबन्धकार भी हैं। 'तार' उनका एक सुन्दर, समादृत कहानी-संग्रह है। वे लखनऊ विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट हैं। और हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और कवि साहित्य-शास्त्री पंडित मातादीन जी शुक्ल (भूतपूर्व 'माधुरी' संपादक) के सुपुत्र हैं।

'अंचल' का कवि जीवन-तृष्णा का गायक है। उसके गीतों में पिपासा-कुल प्राणों की सारी कसक, सारी वेदना, पुंजीभूत मिलती है। विचारों

में 'अंचल' उग्र यथार्थवादी हैं। इस समय उनकी अवस्था ५० वर्ष की है, पर २५ वर्ष की वयस में ही जो उनकी कविता चमक उठी थी, इसका मुख्य श्रेय उनकी प्राण-पीड़क भावुकता में जाग्रत-गुंजित उनकी अविच्छिन्न प्रतिभा को ही है।

'अंचल' जी हिन्दी की रोमेंटिसिज्म की धारा के सफल कवि हैं।

अतर्गीत

भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन।
यह उदासी भरी धुंधुंआ उठी संध्या विजन में।
वेदना घहरा उठी नीचे निराशा से गगन में।

शून्य अम्बर से तृषा-सी एक भी तो उडु न जलता।
श्याम-सरिता के तटों पर घिर चली कैसी विकलता।

दूर जाना है अरुणिमा से मधुर मेरे पथिक अब,
जल रहे हैं सान्ध्य-तृष्णा में पिपासित अंग ये सब!

दूर बुलबुल कर उठी कैसा निविड़ उद्भ्रान्त क्रन्दन!
भर गई मेरे तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन॥१॥

रुक चले अब स्रोत लहरों का तरी तो अब रुके ना
दूर जाना है कभी दुर्दिन भरा मझधार खेना।

गीत की गति-सी उड़ाते तुम कहाँ से चल पड़े प्रिय!
भर कनक नौका करीलों से चली प्रज्ज्वलित हिय।

आज चलता है न मधुवाहन समीरण, फुल्लध न-सा।
आज का दक्षिण पवन तो रह गया अबसन्न प्यासा।

आज मधु मन्दिर खड़े उजड़े लुटे व्याकुल तृषित मन।
आज तो मधु दिन न लगते भग्न अनियन्त्रिध्त विसर्जन॥२॥

जब यहाँ कुंकुम बरसता था मलय के दौर चलते।
चूमते अंबा टहनियों की मधुप-दल थे निकलते।

धुल कनकमय हो गया था रेणु यूथी अगरु वन।
बन गई अपराजिता कलि कलि मिला निर्बन्ध यौवन।
ले प्रखर यौवन शमा-सा मुग्ध कानन बाल डोली।
आह! मीना-सी झमकती बन-परी सुकुमार बोली।
वह महासागर चपल सौन्दर्य का रस-गन्ध प्लावन।
पीत परिमल वे दिवस वे बुझ गये रुकता न जीवन ।।३।।

आज पतझड़ है चमन में और मेरा पिक अकेला।
वह फिजाँ छाई प्रलय-सी आज पुलकों की न बेला।
एक दीपक भी न जलता आज सब सूनी लताएँ।
उड़ रहा विच्छेद उनका स्रोत-सा हर-हर तृषाएँ।
भर गई मेरी तरी किंशुक सुमन मैं बीन लाई।
आ गए तुम नाव मेरी रुक गई चलने न पाई।
धेनु गृह-गृह में, जले जो सान्ध्य दीपक, स्नेह उन्मन।
भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन ।।४।।

डोलता डगमग विकल उर काँपती नौका लहर में।
पार प्रीतम ही करेगा इस पिपासा की भँवर में।
तुम, अरे तुम कुछ न पूछो घोर अन्धकार छाया।
आज प्राणों में कहाँ का प्रज्ज्वलित आतप समाया।
सान्ध्य दीपों की जलेगी कुछ पहर तक ही उदासी।
किन्तु अगणित यामिनी मिटती चली मैं भग्नप्यासी।
युग-युगों तक प्राण वारूँ पर न बुझने का समर्पण।
भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन ।।५।।

आज सूनापन सुरापी-सा शिथिल कंपित चरन क्या।
एक-दो क्षण में बुझेगी यह अपूरित लालसा क्या।
आमरण परिचय न हो पाता बड़ी दुर्दान्त धारा।
आज तो अन्तर्विलासी छूटता है यह किनारा।

छूट जाते प्राण फिर भी साथ सब अरमान जाते।
और मतवाले अकंपित नेत्र भी भरने न आते।
हैं उमंगें ये पुरानी पर नया पाया न यौवन।
भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन ॥६॥

और मेरे बावले पथी, न मैंने पथ पाया।
एक यह नौका प्रबल तूफान हाहाकार आया।
घोर प्रलयों से चली पर भूख तो मिटती न मन की।
आह, मुझ-सी है असीमित नील तृष्णा भी गगन की।
पाप-पुण्यों से अलग मेरी तपिश उद्दाम बाँकी।
दूर मंजिल है कहो सोई अभी तो सुधि पिया की।
बस विजन बजता चलेगा खाँव-खाँव दुरन्त गर्जन।
भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन ॥७॥

गुँथ गया चिरकाल का उद्भ्रान्त उर से दाह-क्रन्दन।
कब न प्रेमी ने धधक कर भस्म कर डाला अजीवन।
एक व्याकुल बाँसुरी-सी स्पर्श पाने की प्रयासी।
गीत उद्दीपन भरी मैं मधु कलंकित नीरजा-सी।
जन्म-जन्मों तक निहारा रूप पर अतृप्त अन्तर।
आज तो अनुभूति आधी रात-सी ज्वाला रही भर।
कह रहा चीत्कार मेरा किस दुराशा से भरा मन।
भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन ॥८॥

है मरण बन्धन कहाँ, कब खोजते क्यों प्राण पी को।
विश्व की सम्पूर्ण तृष्णा भी बहुत कम भ्रान्त जी को।
दूर तक तो है नहीं, मेरा सनम-अविदित कहाँ तक।
इस प्रलय-प्रवाह तृषा से मैं विपुल व्यापक गई छक।

मृत्यु धन्धों के उधर उस पार भी तो है पिपासा।
हो गये पीले अधर, पर वक्ष तो परितृप्त प्यासा।
पूर्ण जीवन की परिधि अवशेष प्राणों का निवेदन।
भर गई मेरी तरी मेरे पथिक, रुकता न जीवन॥९॥

श्री पद्मकान्त मालवीय

जन्म-संवत्—१९६२ विक्रमी; निवास-स्थान—इलाहाबाद।

पद्मकान्त जी वर्षों से कविता लिख रहे हैं। 'त्रिवेणी', 'हार' 'प्याला' आदि उनके कई कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे जन्म-जात कवि हैं। एक तरह से कविता ही के पीछे उन्हें इन्टरमीडिएट से पढ़ना छोड़ना पड़ा। हिन्दी में ही नहीं, उर्दू में भी कविता लिखते हैं, संगीत कला में वे काफी दक्ष हैं। राग-रागनियों का यथेष्ट ज्ञान है।

पद्मकान्त जी हमारे यहाँ प्रेमानुभूति के कवि हैं। उनकी कविताओं में एक व्यथा झलकती है। अतृप्ति, आकुलता और चिरवियोग उनकी कविता का क्षेत्र है। अपने इस क्षेत्र में निस्संदेह वे बहुत सफल हुए हैं। गीति-काव्य के कवियों में उनका एक विशेष स्थान है।

प्रियतम न आए

(राग भैरवी, ठीका दीपचन्दी, मात्रा १४)

आज तक प्रियतम न आए।
लोचनों में छा गई है उर-उदधि की लहर उठकर।
वायु-सी हिय उसासें, कर रही हैं नाद हरहर।
नयन में घन छा गए हैं, पर बरसता है न पानी।
मान यह भी कर रहे हैं एक तुम ही हो न मानी।
पर कहाँ तक आज हिय अपनी व्यथा जग से छिपाये॥१॥

है पहेली एक मेरे हेतु मेरी ही कहानी।
हो गई मेरे लिये तो शाप ही मेरी जवानी।
शांत फिर भी हो सका अब तक न मेरा हृदय चंचल।
मैं अभी जिसको समझकर पी गया वह था हलाहल।
जो दबाये दे रहा, भार हूँ मैं वह उठाये।।२।।

मैं उनीदे लोचनों से ताकता उनको सदा था।
मुस्कराता ही रहा सो भाग्य में रोना बदा था।
मानकर मिथ्या जगत को एक उनको सत्य जाना।
भूल थी मेरी, हृदय पर आज तक इसको न माना।
किस तरह पाऊँ उन्हें मैं, यह मुझे कोई बताये।।३।।

प्रेम का शाप

(मालकोस)

प्रेम भी है शाप दुनिया के लिए,

डाल पर बैठा हुआ था कीर वह,
देखकर मोहित उसे तुम हो गये।
निज सदन में प्यार करने के लिए,
तुम उसे लाए उसी में खो गए।
तड़फड़ाता किन्तु वह है कह रहा—
'गर जिये हम इस तरह तो क्या जिये?'
प्रेम भी है शाप दुखिया के लिए।

मैं झुकाये सर खड़ा चुपचाप था,
रो रहा था आप अपने भाग्य पर।
लोग आते और जाते वे सभी,
रुक गये तुम किन्तु मुझको देखकर।

शरण में रक्खा, रहे सुख कौन वे,
शेष जो तुमने नहीं मुझको दिये।
प्रेम भी है शाप दुखिया के लिए।।

दे गये कड़ियाँ सुखों की तुम मुझे
जोड़कर उनकी बनी जंजीर जब,
बँध गया उससे स्वयं मैं आप ही,
टूटती है हाय! मुझसे वह न अब।।

हो गया अमृत जहर अब क्या करूँ?
जानकर सब, कौन इनको अब पिये?
प्रेम भी है शाप दुखिया के लिए।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

'दिनकर' जी का जन्म संवत् १९६५ वि० में हुआ। आप सिमरिया, जिला मुंगेर के निवासी हैं। पहले मधुवन के रजिस्ट्री-विभाग में सब-रजिस्ट्रार पद पर काम करते थे, फिर राज्यसभा के सदस्य हुए, फिर भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति। कुछ समय तक आप केन्द्रीय गृहमंत्रालय में हिंदी सलाहकार रहे।

'दिनकर' की कविताओं के दो संकलन, 'रेणुका' और 'हुंकार' पहले प्रकाशित हुए थे। इधर उनके 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' काव्यों का पर्याप्त समादर हुआ है।

'दिनकर' जी हमारे यहाँ नवीन धारा के कवि हैं। वे विगत वैभव के गायक और भावी स्वर्ण-बिहान के स्वप्नदर्शी हैं। उनके भावों में बड़ा ओज है। उनकी भाषा-भाव-धारा के साथ-साथ बहती चलती है। राष्ट्र-वादी होने पर भी जीवन की अभिव्यंजना से उनका अविकल सामंजस्य है। यह उनकी विशेषता है। वे अन्तर्वेदना के चित्राकार हैं, और उस अन्तर्वेदना को उन्होंने राष्ट्र के प्रतीक में ऐसा विजड़ित कर लिया है कि

हम यह भूल जाते हैं कि यह राष्ट्र का स्वर है या 'दिनकर' कवि का। उनकी दिशा अपनी है। उनके कविता-पाठ का ढंग भी आकर्षक है। निस्संदेह उन्होंने विहार प्रान्त और हिन्दी भाषा की गौरव-वृद्धि की है।

कस्मै देवाय

रच फूलों के गीत मनोहर चित्रित कर लहरों के कंपन,
कविते तेरी विभव-पुरी में, स्वर्गिक स्वप्न बना कवि-जीवन।
छाया सत्य-चित्र बन उतरी, मिला शून्य को रूप सनातन,
कवि मानस का स्वप्न भूमि पर बन आया सुर-तरु-मधु-कानन।

भावुक मन था रोक न पाया, सज आए पलकों में सावन;
नालन्दा, वैशाली की कब्रों पर बरसे पुतली के घन।
दिल्ली की गौरव समाधि पर आँखों ने मोती बरसाए;
सिकता में सोये अतीत के ज्योति वीर स्मृति में उग आए।

बार-बार रोती रावी की लहरों से निज कंठ मिलाकर;
देवि ! तुझे सच रुला चुका हूँ, सूने में आँसू बरसाकर।
मिथिला में पाया न कहीं, तब ढूँढ़ा वोधि-वृक्ष के नीचे,
गौतम का पाया न पता, गंगा की लहरों ने दृग मीचे;

मैं निज प्रिय दर्शन अतीत का खोज रहा सब ओर नमूना।
सच है या मेरे दृग का भ्रम ! लगता विश्व मुझे यह सूना।
छीन-छीन जल-थल की थाती संस्कृति ने निज रूप सजाया।
विस्मय है, तो भी न शान्ति का एक दर्शन एक पलक को पाया।

जीवन का यति-साम्य नहीं क्यों फूट सका अब तक तारों से ?
तृप्ति न क्यों जगती में आई अब तक भी आविष्कारों से ?
जो मंगल उपकरण कहाते, वे मनुजों के पास हुए क्यों ?
विस्मय है, विज्ञान विचारे के वर ही अभिशाप हुए क्यों ?

धरणी चीख कराह रही है दुर्वह शस्त्रों के भारों से।
सत्य जगत की तृप्ति नहीं अब भी युगव्यापी संहारों से।
गूँज रही संस्कृति मंडप में भीषण फणियों की फुंकारें,
गढ़ते ही भाई जाते हैं भाई के वध हित तलवारें।

शुभ्र वसन वाणिज्य न्याय का आज रुधिर से लाल हुआ है।
किरिच-नोंक पर अवलम्बित व्यापार, जगत बेहाल हुआ है,
सिर धुन-धुन सभ्यता सुन्दरी रोती है बेबस निज रथ में—
"हाय दनुज किस ओर मुझे वे खींच रहे शोणित के पथ में?"

दिशि-दिशि शस्त्रों की झन-झन-झन, वन पिशाच का भैरव नर्तन।
दिशा-दिशा में कलुष-नीति, हत्या, तृष्णा, पातक, आवर्तन।
दलित हुए निर्बल सबलों से, मिटे राष्ट्र उजड़े दरिद्र जब;
आह सभ्यता आज कर रही है, असहायों का शोणित शोषण।

क्रांतिधात्रि! कविते! जागे, उठ, आडम्बर में आग लगा दे।
पतन पाप पाखण्ड जले जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे;
विद्युत की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है;
अरी हृदय को थाम, महल के लिए झोपड़ी बलि होती है।

देख, कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।
और उठी जाती उन पर भी वैभव की ऊँची दीवारें।
धन-पिशाच के कृषक-मेघ में नाच नहीं पशुता मतवाली;
आगन्तुक पीते जाते हैं दीनों के शोणित की प्याली।

उठ भूषण की भावरंगिणी! लेनिन के दिल की चिनगारी।
युगमर्दित यौवन की ज्वाला जाग, जागरी क्रांतिकुमारी।
लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट-फूट तू कवि कंठों से बन व्यापक निज युग की वाणी।
बरस ज्योति बन गहन तिमिर में, फूट मूक की बनकर भाषा।
चमक अन्ध के प्रखर दृष्टि बन उमड़ गरीबी की बन आशा।

गूँज शांति की सुखद साँस-सी कलुषपूर्ण युग कोलाहल में।
बरस सुधामय कनक दृष्टि बन ताप तप्त जग के मरुस्थल में।
खींच स्वर्ग-संगीत मधुर से जगती को जड़ता के ऊपर।
सुख की स्वर्ण कल्पना-सी तू छा जाये कण-कण में भू पर;
क्या होगा, अनुचर न वाष्प हो, पड़े न विद्युत दीप जलाना;
मैं न अहित मानूँगा चाहे मुझे न नभ के पन्थ चलाना।
तमसा के अति भव्य पुलिन पर चित्रकूट के छायातरु पर;
कहीं तपोवन के कुंजों में देना पर्णकुटी का ही घर!
जहाँ तृणों में तू हँसती हो बहती हो सरि में इठलाकर।
पर्व मानती ही तरु पर तू विहंग-स्वर में गा-गाकर।
कन्दमूल, नीवार, भोगकर, सुलभ, इंगुदी-तेल जलाकर।
जन-समाज सन्तुष्ट रहे हिल-मिल आपस में प्रेम बढ़ाकर।
धर्म भिन्नता हो न सभी जन शैल-तटी में हिल-मिल जावें
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में भावुक भक्ति-मुग्ध मन गावें—
'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवी द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम्?"

श्री नरेन्द्र शर्मा

जन्म संवत्—१९७० विक्रमी; निवास स्थान—जहाँगीरपुर, जिला बुलन्दशहर।

नरेन्द्र जी प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० हैं। कुछ दिनों तक दैनिक 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में रहकर आप अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आफिस में अण्डर सेक्रेटरी के पद पर कार्य कर चुके हैं। आजकल आकाशवाणी से संबद्ध हैं। 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत', 'मिट्टी और फूल', 'अग्निशस्य,' 'द्रोपदी' एवं 'प्यासा निर्झर' आदि आपकी कविता पुस्तकें हैं।

नरेन्द्र जी मुख्यतः प्रेमानुभूति के कवि हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में प्रेम और मिलन के सौन्दर्य को चित्रित किया है। जीवन में जो कुछ शरीरगत साकार सौन्दर्य है, जिसे हम अपनी आँखों से देखकर प्रायः अतृप्त रहते आये हैं, 'नरेन्द्र' का कवि उसका गायक है। वे यथार्थवादी और प्रगतिशील हैं। मार्क्सवाद का उन पर प्रभाव है। उनकी कुछ कविताएँ उस प्रभाव को स्पर्श करती चलती हैं। शब्द-सौष्ठव, पद-रचना में वे यद्यपि कविवर सुमित्रानन्दन पन्त से प्रभावित हैं, तथापि उनका व्यक्तित्व अक्षुण्ण है।

नरेन्द्र जी एक प्रगतिशील कवि ही नहीं, कहानीकार और निबन्धकार भी हैं। गीति-काव्य में कवियों में उन्होंने अपना एक स्थान बना लिया है।

असम्भव है, असम्भव !

सुमुखि, तुमको भूल जाना तो असम्भव है, असम्भव है !
विरह कातर देख मुझको छलछलाये लोचनों से,
विदा दे तुमने कहा था—"प्राण, मुझको भूल जाओ"॥
—नींद में तो स्वप्न हैं ही, मृत्यु की भी कौन जाने !
हृदय के वासी ! तुम्हें कैसे भुलाऊँ, तुम सिखाओ—
भूल सब कुछ भूल जाना अब असम्भव है, असम्भव ! सुमुखि०

क्यों न जाने मुझे बरबस याद आती है मिलन की ?
नाच उठती है दृगों में स्वप्न बन संयोग बेला,
जब कभी कुछ देर बहलाने व्यक्ति व्याकुल हृदय को,
गिन गगन के तारकों को आह भरता हूँ अकेला,
सत्य होना किन्तु सपनों का असम्भव है, असम्भव ! सुमुखि०

कल्पना के चित्र भर भीतर कभी भीगे पलक जब,
थक प्रतीक्षा में, निमिष भर नींद में मुंदते अचानक।

क्या तुम्हीं आतीं सपन बन पोंछने को अश्रु मेरे—
—चूमने को ओस के मोती उषा सी अरुण चम्पक?
सूखना इन आँसुओं का पर असम्भव है, असम्भव! सुमुखि०

आँसुओं का अर्घ्य दे-देकर तुम्हारा नाम जपकर,
मूर्ति मन में बनाकर सुकुमारि, तुमको पूजता हूँ।
गले मिल-मिलकर बिछुड़ने की विगत वह बात तुमसे
आज मैं निरुपाय कोसों दूर बैठा सोचता हूँ।
किन्तु वह मधु-मिलन भी अब तो असम्भव है, असम्भव! सुमुखि०

विश्व में अपवाद हूँ, उपहास हूँ निष्ठुर समय का।
हथकड़ी बेड़ी बना दी नियति ने सब कामनाएँ,
दीन बन्दी हूँ, सुमुखि पर भृकुटि-संचालन करो तो,
तोड़ सकता हूँ, निमिष में विश्व की सब शृंखलाएँ!
टूटना पर प्रेम बन्धन का असम्भव है, असम्भव! सुमुखि०

तुम हृदय में बसी हो, तो मैं कहो कैसे अकिंचन;
त्याग सकता हूँ सकल ब्रह्माण्ड को ज्यों धूलि का कन,
अन्य भौतिक बन्धनों को तोड़ सकता हूँ विना श्रम,
देह होगी ही विसर्जन, धूलि में मिल—राख का कन,
त्यागना इस साधना का पर असम्भव है, असम्भव! सुमुखि०

चारु पथ वह विश्व में विख्यात जो आकाश-गंगा,
प्रेमियों के चरण छू जो हो रहा उज्ज्वल निरन्तर,
जहाँ प्रेमी चिर-मिलन वरदान पाते हैं बिछुड़कर,
वहाँ हम-तुम भी मिलेंगे, बन्धनों से मुक्त होकर,
विलग रहना एक क्षण भी पर असम्भव है, असम्भव! सुमुखि०

प्रातः समीर

धीरे बह री प्रातः समीर! बुझती चिनगारी जल न उठे!

रो-रोकर रात बिता बिरही, सोया है पल भर धीरे चल,
पंखा झल झल क्यों जगा रही प्राची का उर अंगार घायल,
शीतल समीर उसको भाये जिसका घायल उर जल न उठे। धीरे०

यह वेणु, सदृश जीवन है ज्यों झंझा-जर्जर बाँसों का वन,
दोनों में अनल समान छिपी, दोनों ही कर उठते क्रन्दन,
मलयानिल के उन झोंकों में वह छिपी अनल फिर जल न उठे। धीरे०

सुन तेरी चल पद चाप कहीं जागे न व्योम में भी ज्वाला,
वारिद की लपटों से जल-जल झर जाय न वह तारक माला—
गिन जिसको कटती निशि आकाश-कुसुम-माला वह जल न उठे। धीरे०

श्री गोपालसिंह नेपाली

आपका जन्म सं० १९५९ वि० में हुआ। जन्म-स्थान बेतिया (चंपारन) है।

नेपालीजी एक प्रतिभाशाली कवि थे। उनकी अपनी एक नयी दिशा रही है। शैली भी उनकी अपनी थी। भाषा में प्रसाद-गुण उनकी विशेषता है। दिन-रात, पशु-पक्षी, पत्ते और फूल, नदी और निर्झर, कानन और उद्यान, विभावरी का सन्नाटा, उसमें हुलसी मनुष्य की कामना और उसके स्वरूप का चित्रण नेपालीजी का मुख्य क्षेत्र रहा है। प्रकृति की मूक, प्रशांत छवि का वर्णन करने में उनको वास्तव में बड़ी सफलता मिली है।

'उमंग', 'पंछी' तथा 'रागिनी' आदि कई कविता संग्रह इनके प्रकाशित हो चुके हैं। कई वर्षों तक आपने रतलाम के 'रतलाम टाइम्स' तथा पटना के 'योगी' का सम्पादन भी किया। इसके उपरान्त बम्बई में रहकर

रजतपट के गीत लिखने में ख्याति प्राप्त की। चीन ने जब भारत पर अघोषित युद्ध छेड़ दिया, तब नेपाली अपने गीतों द्वारा जन चेतना को प्रबुद्ध करने के लिए देश-भ्रमण करने लगे। इसी समय भरी जवानी में अचानक आप स्वर्गस्थ हो गए।

पीपल

कानन का यह तरुवर पीपल
युग-युग से जल में अचल अटल
ऊपर विस्तृत नभ नील नीचे वसुधा में नदी झील
जामुन तमाल, इमली, करील
जल के ऊपर उठता मृणाल, फुनगी पर खिलता कमल लाल
तिर-तिर करते क्रीड़ा मराल
ऊँचे टीले से वसुधा पर झरती है निर्झरिणी झर-झर
हो जाती बूँद बूँद झर कर
निर्झर के पास खड़ा पीपल, सुनता रहता कल कल छल छल
पल्लव हिलते ढलपल-ढलपल
पीपल के पत्ते गोल गोल
कुछ कहते रहते डोल-डोल
जब जब आता पंछी तरु पर, जब जब जाता पंछी उड़कर
जब जब खाते फल चुन-चुनकर
पड़ती जब पावस की फुहार, बजते जब पंछी के सितार
बहने लगती शीतल बयार
तब-तब कोमल पल्लव हिल-डुल—गाते सरसर मर्मर मंजुल
लख-लख सुन-सुन विह्वल बुलबुल
बुलबुल गाती रहती चहचह, सरिता गाती रहती बह-बह
पत्ते हिलते रहते रह रह

वन श्री

जितने भी हैं इसमें कोटर
सब पंछी गिलहरियों के घर
संध्या को जब दिन जाता ढल, सूरज चलते हैं अस्ताचल
कर में समेट किरणें उज्ज्वल
हो जाता है सुनसान लोक, चल पड़ते घर को चील कोक
अंधियारी सन्ध्या को विलोक
भर जाता है कोटर-कोटर, बस जाते है पत्तों के घर
घर-घर में आती नींद उतर
निद्रा ही में होता प्रभात, कट जाती है इस तरह रात
फिर वही बात रे वही बात
इस वसुधा का यह वन्य प्रान्त
है दूर अलग एकान्त शान्त
हैं उड़े जहाँ पर शाल, बाँस, चौपाये चरते नरम घास
निर्झर सरिता के आस पास
रजनी-भर रो-रोकर चकोर कर देता है रे रोज भोर
नाचा करते हैं जहाँ मोर
है जहाँ बल्लरी का बन्धन, बंधन क्या, यह तो आलिंगन
आलिंगन भी चिर आलिंगन
बुझती पथिकों की जहाँ प्यास निद्रा लग जाती अनायास
है वही सदा इसका निवास

श्री आरसीप्रसाद सिंह

श्री आरसीप्रसाद सिंह का जन्म सन् १९३८ वि० में जिला दरभंगा में हुआ।

बिहार के कवियों में ये अग्रगण्य और यथार्थवादी कवि हैं। जीवन में जो कुछ भी तृष्णा और क्षुधा, निराशा और उसका क्रूर पीड़न है, 'आरसी' की कला अपनी अभिव्यंजना में उन चित्रों की उज्ज्वल आरसी है।

पहले इन्होंने कोशी कालेज, खगड़िया मुंगेर में अध्यापक का कार्य किया, फिर आकाशवाणी से सम्बद्ध रहे।

'आरसी' का कवि जीवन की व्यथा का गायक है। उसके गायन में रुदन तो है, किन्तु जीवन को नाश की ओर ले जाने वाली उसकी प्रतिक्रिया नहीं है। उसके कथन की पृष्ठभूमि में मानों एक ज्वालामुखी सोता रहता है। अवसर पाते ही वह जब भड़कता है, तब यह नहीं देखता कि उसका परिणाम क्या होगा। इस अर्थ में 'आरसी' जी एक विप्लववादी कवि हैं।

'कलापी' आपका प्रथम कविता संग्रह है। 'आरसी' नाम से आपके गीतों का एक बृहत् संग्रह प्रकाशित हुआ है।

आभास

मेरी साँसों से शूल छिला करते हैं,
दुख भी मेरे अनुकूल मिला करते हैं।
आँसू से मेरे हरी धरा की डाली,
पत्थर से भी मृदु फूल खिला करते हैं॥१॥

मैं कविता का शृंगार किया करता हूँ,
मैं भावों में अभिसार किया करता हूँ।
टकराती मेरी लहरें जग के तट से,
सागर-सा हाहाकार किया करता हूँ॥२॥

कवि हूँ यों ही कुछ गान किया करता हूँ।
मैं नवयुग का निर्माण किया करता हूँ।
जादू से मेरे विवश धरातलवासी,
मैं सबको यों पहचान लिया करता हूँ॥३॥

मैं सबसे आँखें चार किया करता हूँ,
पर किसी-किसी को प्यार किया करता हूँ।
मुझसे क्यों मेरे सहचर रहें न पुलकित,
मैं बिजली का संचार किया करता हूँ॥४॥

मैं चित्र तुम्हारा आँक लिया करता हूँ,
खिड़की से तुमको झाँक लिया करता हूँ,
पर वही—सामने तुम्हें कभी जो पाता,
मैं लज्जा से मुँह ढाँक लिया करता हूँ॥५॥

मैं अलियों का आह्वान किया करता हूँ।
कुछ अपने पर अभिमान किया करता हूँ।
मुझको न एक ही तरु की सुरभि सुहाती,
मैं फूल-फूल का पान किया करता हूँ॥६॥

मैं कब किसकी परवाह किया करता हूँ।
दुःख से, पीड़ा से आह किया करता हूँ।
जो मुझे बुलाता, मुझे चाहता दिल से,
मैं भी बस, उसकी चाह किया करता हूँ॥७॥

मैं इन बूँदों को पाल लिया करता हूँ।
यों दिल की कसर निकाल लिया करता हूँ।
मस्ती में मेरी फर्क जला भी आता,
मैं कभी-कभी कुछ ढाल लिया करता हूँ॥८॥

है स्वर्ग एक मेरी दुनिया का कोना,
मेरे अन्तर में अम्बर को भी खोना।
पारस-सा पेरा, परस, सरस, आकर्षण,
मिट्टी भी हो तो मुझको छूकर सोना॥९॥

मैं काँच लुटाकर कींच लिया करता हूँ,
दृग जल से अन्तर सींच लिया करता हूँ।
मत देखो मेरी ओर चलो तुम बचकर,
मैं सबको बरबस खींच लिया करता हूँ ॥१०॥

मैं जहाँ पहुँचता तुम्हें वहीं पाता हूँ,
प्रिय, प्रकट कहीं तो गुप्त कहीं पाता हूँ,
मैं मुकुर, जगत का मुखड़ा मुझमें देखो,
मैं अपने को ही देख नहीं पाता हूँ ॥११॥

मैं इस जग से इस तरह जिया करता हूँ,
हर वक्त मौत से खेल किया करता हूँ।
छू दिया मुझे है लज्जावती लता ने,
मैं कभी-कभी गुनगुना लिया करता हूँ ॥१२॥

विरह-गीत

पतझड़ का मर्मर-स्वर चुन-चुन अलि, सुन सुमनों का क्रन्दन सुन,
हिरणी-सी हाय नचा चितवन, पथभ्रष्ट किया जिसने जीवन,

अब वही बनी है वीरानी! ऐसी तो दुनिया दीवानी!!
रोता उपवन में सिर धुन-धुन अलि, सुन बुलबुल का रोदन सुन।

वैभव में आँगन में पल-पल दिन यौवन का ढल रहा विफल,
बहती निर्झरिणी-सी करुणा! दो नयनों की गंगा-यमुना!

कह जाती हृदय व्यथा गुन-गुन, अलि सुन सरिता का गुन गुन।
सन्ध्यातारा-सा मेरा मन, अम्बर में देख रहा निर्जन—

जगती की मृत्यु निशा अपलक! आशा की फिर भी एक झलक—
दिख पड़ती ध्वनियों में रुनझुन, अलि, नूपुर का मृदु 'रुनझुन' सुन।

शब्दार्थ और टिप्पणियाँ

सान्ध्य अटन—अटन=घूमना। सद्य=तुरन्त, अभी। निभ=समान। दिङ्नार=दिशा रूपी नारी। प्रहित=फेंका हुआ। पारणा=पारण (व्रत के दूसरे दिन का भोजन) करना। अभ्र=आकाश।

स्वजीवन—वलित=सहित, घेरा हुआ। संभूत=सहित, उत्पन्न, समान। आढ्य=सम्पन्न। मूर्धन्य=सबसे उत्तम। अतिहृद्य=हृदय को अत्यन्त प्यारा। प्रतिपत्ति=गौरव, सम्मान, वैभव। अविषण्ण=प्रसन्न। पूत=पवित्र। निलय=स्थान, घर। निगम=मार्ग, वेद। ऋषभ=पुंगव, श्रेष्ठ।

सौन्दर्य—कान्त=प्यारा, इच्छित। विलसित=शोभायमान। निचय=समूह। मुकुर=आईना। व्याज=बहाना, छल। कलित=सुन्दर। अभिभूत=पराजित, वशीभूत। रुज=रोग। पूत=पवित्र। मरन्द=(मकरन्द) फूलों का रस।

यशोदा-उद्धव संवाद—नवनी=अधपका घृत, नैनू। दव=वनाग्नि। पुलक=रोमांच। स्निग्ध=गाढ़ा, चिकना। मूरि=मूल, जड़। खनि=खान। भूजात=वृक्ष। विकच=विकसित, खिला हुआ। चिहुँक=चौंकन।

कौशल्या विलाप—स्वेद=पसीना, श्रमबिन्दु। पवि=वज्र, इन्द्र का शस्त्र। उदासी=राग-द्वेष हीन। अजित=शेर, चीता, हाथी का चर्म। उपल=पत्थर। आर्ति=पीड़ा। याम=पहर। अम्ब=माता।

बुझा हुआ दीपक—तोम=समूह। काम तमाम किया=सदा के लिए समाप्त कर दिया, नष्ट किया।

यशोधरा—पर्ण=शर्त, वचन। उपालम्भ=उलाहना। परिहार=त्याग, मोचन। कन्दर्प=कामदेव।

मातृभूमि—नीलाम्बर=नील आकाश। परिधान=पहनने का वस्त्र। अभिषेक=राजपद ग्रहण करने की रस्म। सगुण=गण सहित, सांसारिक। अभ्रंकष=गगनस्पर्शी, बहुत ऊँचा। प्रासाद=राजमहल। जठरानल=पेट की अग्नि। प्रत्युपकार=बदले में उपकार करना। तरणि=सूर्य। सात्विक भाव=ज्ञान, शांति और संतोषयुक्त प्रकृति का एक गुण। प्रेरा=प्रेरणा किया हुआ। आत्मरूप=ब्रह्म।

अन्वेषण—कुंज=लतागृह। वतन=मातृभूमि। चमन=बाग। सिकन्दर=ईसवी सन् से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व का ग्रीस देश का सम्राट जिसका राज्य प्रबन्ध बहुत सुव्यवस्थित था, जो संसार का एक महान् विजेता माना जाता है और जिसने युद्ध-कौशल से अपने राज्य की बहुत वृद्धि की। फरहाद=फारस में गणित का प्रोफेसर, जो राजकुमारी शीरी पर आसक्त था। सुहराब=रुस्तम का बेटा जो अपने पिता के हाथ से मारा गया। रुस्तम का विवाह सीस्ताँ के राजा की पुत्री से हुआ था। रुस्तम अपनी उस पत्नी को उसके पिता के यहाँ छोड़ने आया था। वहीं सुहराब का जन्म हुआ। परन्तु उसकी माँ ने सोचा कि अगर रुस्तम को इस बात की खबर लग जायगी, तो वह अपने बच्चे को ले जायगा, इस-लिए उसने यह जाहिर किया कि एक दुर्बल लड़की हुई है। वयस्क होने पर वह भी अपने पिता के समान ही पहल्वान हुआ। क्रीसस (क्राइसस)=एशिया माइनर का बादशाह, जो अपने आपको संसार में सबसे अधिक सुखी मानता था। कुछ समय बाद उन पर फारस के बादशाहने चढ़ाईकर दी, तब वह पराजित होकर बन्दी हो गया। विजयी राजा ने आज्ञा दी कि इसे जीता ही जला दो। चिता तैयार हो गयी। जलाने के लिए जब वह उसी स्थान पर लाया गया तो उसने 'सीलन' नामक साधु को पुकारा। पूछा गया कि तुम सीलन को क्यों पुकारते हो। तब उसने बतलाया कि मैंने उससे कहा था कि संसार में सबसे बढ़कर सुखी मैं हूँ। उत्तर में उसने कहा था, 'जीवन भर

देखते चलिए, कभी न कभी तो आपको यह मालूम हो जायगा कि आप कितने सुखी हैं?" आज उसके कथनानुसार मुझे मालूम हुआ कि मैं कितने भ्रम में था। बादशाह ने जब ये बातें सुनीं, तो उसे छोड़ दिया। महमूद=महमूद गजनवी गजनी का एक इतिहास प्रसिद्ध मुसलमान सरदार जिसने भारतवर्ष पर सत्रह बार आक्रमण किया। मंसूर=इनका नाम हसन हल्लाज था। इनका जन्म ईरान के बजा नामक गाँव में हुआ था। ये बड़े सदाचारी तपस्वी और परम ज्ञानी थे। साथ ही ये ईश्वरीय रहस्य के मर्मज्ञ विद्वान, उच्चकोटि के कवि और व्याख्याता भी थे। भावावेश में एक बात इन्होंने सूफी सम्प्रदाय के विरुद्ध कह दी थी, जिसका विरोध इतना बढ़ा कि अन्त में एक वर्ष कैद भोगने के बाद इन्हें दो बार क्रमशः एक-एक हजार कोड़े खाने की सजा दी गयी। मंसूर ने जब यह सजा सहन कर ली तो, उसे सूली पर चढ़ा दिया गया।

ज्ञान का दण्ड--बकुल=मौलश्री। कलाप=समूह। पयोद=मेघ।

स्वप्न--कोकनद=लाल कमल। लसित=शोभित। सविता=सूर्य। मरकत=पन्ना रत्न। मारुत=वायु। तुहिन=पाला, ओस। उत्तुंग=बहुत ऊँचा। उर्मिमय=लहरयुक्त। गुल्म=वृक्ष-समूह, झाड़ी।

उन्माद--निपात=पतन। संस्थान=निकटता, स्थान।

अनन्त जीवन--प्रसरन=प्रसार, फैलाव। पादप=पेड़। रंजन=प्रसन्न करना, रंगना। तरल=पतला, द्रवीभूत, चंचल। आवर्त्तन=चक्कर। बर्बरता=जंगलीपन। द्रवित=तरल बहता हुआ। विस्फुरित=हिलता हुआ।

शिशु--छहर=फैलाव।

बंग देश का सौन्दर्य--चरणोदक=चरणों का धोया हुआ जल,चरणामृत। रसा=पृथ्वी। शाल (साल)=एक प्रकार का वृक्ष, लता-

पाश-आबद्ध=लताओं के जाल से जकड़े हुए। केशकेतु=केश रूपी ध्वजा। रम्भा=केला, अप्सरा। रम्म=वेणु, एक प्रकार का बाण। झिलमिल=रह रह कर प्रकाश के घटने-बढ़ने की क्रिया।

नूरजहाँ—निविड़=घना। वारिद=मेघ। आगम=आगमन, भविष्यकाल। वारिकर=जल-किरण। उच्छृंखलता=स्वेच्छाचारिता। पाषाणकोट=पत्थरों का किला। करवाल=तलवार।

दीपक की आत्मकथा—गेह=घर। मृत्तिका=मिट्टी। स्वीय=निजी। निरवापित=बुझा हुआ।

सुमन—दगाबाज=धोखेबाज। दम्भियों=पाखंडियों।

देव-देव—सुषुप्ति=गाढ़ निद्रा। समावृत्त=अच्छी तरह ढका हुआ। लुब्ध=लोभयुक्त। जाया=पैदा किया हुआ। ध्वान्त=अँधेरा। ओजोमयी=तेज, बल, प्रतापवाली। गरिमा=गुरुता, बड़ाई। विभूति=वैभव, सिद्धि। मयूख=किरण। धृता=धारण की हुई। सकाश=निकट, उपस्थिति। बीत=गया हुआ, व्यतीत। वहित्र=नौका। अजस्र=निरन्तर।

सुमन—चंचरीक=भौंरा। गतमधु=मधुरता हीन। कनीनिका=आँख का तारा।

वियोगिनी—अलक=केश। सरिस=समान, सदृश।

नव-स्वागत—सहस्रदल=कमल। नन्दन=इन्द्र का उपवन।

पुष्प की अभिलाषा—सुरवाला=षोडश वर्षीया देवकन्या।

उन्मूलित वृक्ष—उन्मूलित=जड़ सहित उखाड़ा हुआ। नागर=चतुर। शाखा-मृग=वानर।

कैदी और कोकिला—बटमार=डाकू। वल्लरी=बेल, लता। व्याली=सर्पिणी। आसव=मदिरा।

सौदा—अन्तस्तल=हृदयतल,अन्तःकरण। मसौदा=मसविदा, खर्रा। आमिषपूर्ण=मांस का टुकड़ा।

स्मृति—कौतूहल=तमाशे का आनन्द, विस्मय। गोधूली=गौओं के स्थान पर जाने का समय। छद्म=कपट (वेश आदि)। उच्छ्‌वास=आह भरना, साँस का बाहर निकालना।

कामायनी का विरह—अणु=जर्रा। शलभ=पतिंगा। नि:संबल=रास्ते के कलेवा से हीन। स्मित=मुस्कराहट। अन्तरिक्ष=आकाश, शून्य स्थान। शिरीष=सिरस वृक्ष। शोण=लालरंग, सिन्दूर। पुलिन=किनारा, जल से निकली हुई हाल की भूमि। दूरागत=द्वार से आया हुआ। अभिन्न=मित्र, प्रेमी। प्रतारित=ठगा हुआ।

समर्थन—तरु-कोटर=वृक्ष की खोखल। निरीह=चेष्टा रहित, उदासीन।

सम्बन्ध—अम्लान=प्रसन्न। पद-विन्यास=पैर का यथास्थान रखना।

पुतलियाँ—अपसट=काला, दुष्ट। प्रशस्त=सुन्दर, श्रेष्ठ। पारावार=समुद्र, आरपार। अवगाहना=घुसना, भीतर खोजना।

उद्‌गार—उद्‌गार=उबाल, वह कथन जो मन में न रह सके। तरणि=नौका।

कुररी के प्रति—दुकूल=साड़ी का छोर। मरीचिका=मृदुजल, तृष्णा। दिग्भ्रांत=दिशाभ्रम से ग्रस्त। अनवरत=विरामहीन। परिताप=दु:ख। विभ्रम=भ्रांति। आयास=चेष्टा।

घट—कर्कश=कठोर। निर्मम=ममत्व रहित, निर्मोह। म्रियमाण=मृतप्राय। अगम=अथाह। आर्तनाद=करुणाजनक ध्वनि। रिक्तता=सूनापन।

वंचित—वंचित=रहित। क्षुब्ध=व्याकुल, अधीर। छिन्न=खण्डित। क्लांत=थका हुआ। शस्य=नयी घास, अन्न तथा फल।

विभास=झलक। दाम=जाल। विघूर्णमान=चाक के समान घूमता हुआ।

जागो फिर एक बार—कोरक=कली। यामिनी-गंधा=रजनीगंधा, रात में फूलनेवाला एक सुगन्धित फूल।

तुम और मैं—शृंग=पर्वत की चोटी। खर=तेज, धार-युक्त। रागानुग=राग (प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा) अनुग (अनुगामी)। निश्छल=छल रहित। प्राप्ति=धन आदि की वृद्धि। वेणी=केशों की रचना विशेष। दुस्तर=कठिन। व्याप्ति=शिव का ऐश्वर्य। निशीथ=आधी रात। दिग्वसना=दिशा के वसनवाली। तड़ित्तूलिका=बिजली की कलम।

विप्लव गायन—विप्लव=उपद्रव, उथल-पुथल। त्राहि=बचाओ, रक्षा करो। कालकूट=समुद्र मंथन के समय निकला हुआ विष। विग-लित=गला हुआ, नष्ट। गतानुगति=अंधविश्वास। महारुद्र=शिव। युगलांगुलियाँ=दो अंगुलियाँ। रुद्ध=रुका हुआ, घिरा हुआ। परिचालन=चलाने की क्रिया। राजभेद=गुप्त बात। विलास=भावों की क्रीड़ा, उनका संचालन।

बिंदिया—अतल=पाताल। वितल=एक पाताल। ठुमकी=पतंग की डोरी को विशेष रूप से झटका देने की क्रिया। कुमकुमा=गुलाल भरा हुआ लाख का बना पीला लड्डू। गाँसी=तीर, बर्छी आदि का फल। झाँई=छाया, प्रतिबिम्ब।

लोगी मोल—परिप्रीत=चारों ओर से भली-भाँति घिरा हुआ। सकार=प्रातःकाल।

मौन निमंत्रण—स्तब्ध=कुण्ठित, हक्का-बक्का। तपक=कौंध, धड़कना। तडित=बिजली। इंगित=इशारा, संकेत। तुमुल=भीषण, भयानक।

पलाश—हरीतिमा=हरियाली। पुष्कल=अधिक श्रेष्ठ, प्रचुर। भृंग=भौंरा।

एकतारा से——निर्मम=ममत्वहीन, निर्मोही। उन्मेष=खुलना। पंजर=पांजर, शरीर की हड्डियों का समूह।

आँसू——अनुताप=खेद। उद्भ्रान्त=भ्रान्तियुक्त, भूला हुआ।

इसका रोना——अन्तरतम=हृदय के भीतर।

मेरा जीवन——वलयित=घेरा हुआ। मंजुल=सुन्दर, मनोहर।

अतृप्त——विभूति=ऐश्वर्य,घन। अवगुंठन=घूँघट। विधुर=विकल।

गीत——नियति=अदृष्ट, भाग्य। कुशली=चतुर। अजिर=आँगन। चौक=चबूतरा। कन्दुक=गेंद। द्रुततर=अत्यन्त शीघ्र, तुरन्त।

असीम की स्मृति——असीम=सीमाहीन, अनन्त।

शुजा——व्यूह=किलाबन्दी। प्राची=पूर्व दिशा। अलक्ष्य=लक्ष्य से हीन। अयुत=दस हजार की संख्या। विभीषिका=भयानक कांड या दृश्य।

स्मृति-कण——शयित=सोया हुआ।

कसक कहानी——सुषमा=शोभा। रेला=वेग, जोर का धक्का। आनन्द=हर्ष।

मायावती——पुंजित=एकत्र, समूह रूप में। विजन=एकान्त। द्युति=चमक। सीकर=जलकण। कुहेलिका=कुहरा। वाष्प=भाप।

पछतावा——कल्मष=पाप। हुंकार=गर्जन। प्रतिकार=बदला, उपाय। वितरित=बाँटा गया।

विश्व सुन्दरी——लय=विलीन होना, विनाश। प्रतीची=पश्चिम दिशा।

हाहाकार——स्मय=हास्य, गर्व। मृगमद=कस्तूरी।

कौन——आकर्षण=खिचाव। तन्मय=तल्लीन।

अभाव की पूजा—प्रश्रय=सहारा, आभार, स्नेह। विरति=हटाना, रुकना, निवृत्ति। अभिशाप=बद्दुआ।

चिनगारी—पर्णकुटी=झोपड़ी।

मधुपान—साकी=शराब पिलानेवाला। मुक्ति=मोक्ष, छुटकारा। भावुकता=भावमग्नता, किसी लहर में बह जाने की-सी स्थिति।

अन्तर्गीत—मुखर=मन में आई हुई बात को तुरन्त साफ तौर से कह डालनेवाला। मधुवाहन=पुष्परस ले जाने वाला। फुल्ल=खिला हुआ। भग्न=टूटा हुआ। युथी=एक प्रकार की पुष्पलता। अगरुवन= सुगन्धित लकड़ी वाले एक प्रकार के पेड़ों का वन। निबन्ध=बन्धनहीन। प्लावन=बाढ़। विच्छेद=वियोग।

कस्मै देवाय—नालन्दा=प्राचीन काल में बिहार प्रान्त का एक प्रसिद्ध शिक्षणालय। वैशाली=बिहार प्रान्त का एक प्राचीन नगर। बोधिवृक्ष= गया में पीपल का एक वृक्ष-विशेष। संस्कृति=सभ्यता। यति=विराम। दुर्वह=कठिनता से ले जाने योग्य। क्रान्तिधात्रि=क्रान्तिमाता। क्रौंच= एक मादा पक्षी, बहेलिये द्वारा जिसके नर के मारे जाने पर, आदि कवि वाल्मीकि के मुँह से ऐसे उद्गार निकले, जो छन्दोबद्ध थे। तपसा=तपस्या करके। नीवार=एक प्रकार का धान। इंगुदी=हिंगोट वृक्ष।

असम्भव है, असम्भव—कातर=अधीर, भयग्रस्त। निमिष= पलक, सेकेण्ड का तीन चौथाई भाग। अपवाद=खण्डन, साधारण नियम बाधक।

अकिंचन—दरिद्र=धनहीन। विसर्जन=त्याग, विदा।

प्रातः समीर—झंझा=आँधी। अनल=अग्नि।

पीपल--तिर-तिर करते=बूँद बूँद टपका के। बसुधा=पृथ्वी। मर्मर=पेड़ की शाखाओं तथा पत्तियों के हिलने का शब्द।

आभास--अभिसार=प्रिय मिलन को संकेत स्थल में जाना। अन्तर =अन्तःकरण।

विरह-गीत--नूपुर=पैर का आभूषण, पैंजनी, घुँघरू।

